❑ नानेश वाणी – 23
नव निधान

❑ आचार्य श्री नानेश

❑ संस्करण : मई 2003, 1100 प्रतियां

❑ मूल्य : 30/–

❑ अर्थ सहयोगी :
श्री बालचन्द जी कुसुम कुमार जी सेठिया, भीनासर

❑ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)
फोन : 2544867, फैक्स : 0151.2203150

❑ मुद्रक :
कल्याणी प्रिण्टर्स
अलख सागर रोड़, बीकानेर
दूरभाष : 151–2526890

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरूष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में है जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माए अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है । यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है । एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों को लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा । इस स्तंभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियां युगों-युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यकता है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनों हित उनकी सुलभता सुनिश्चत रखी जायें । इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को "नानेश वार्ण" पुस्तक शृंखला के अर्न्तगत प्रकाशित करने का निर्णय किया ।

इस संदर्भ में बैंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी ने अर्थ संबंधी व्यवस्था में जो सद्प्रयत्न किया वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

प्रस्तुत कृति पूर्व में नव निधान नाम से प्रकाशित पुस्तक की नयी आवृत्ति है । इसमें कुछ संशोधन परिसंस्करण भी हुआ है । इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले उदारमना सुश्रावक श्री बालचन्द जी कुसुम कुमार जी सेठिया, भीनासर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूं ।

यद्यपि सम्पादन-प्रकाशन मे पूरी सावधानी रखी गई है तथापि कोई भूल रह गयी हो तो सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे हमें अवगत करायें ताकि आगामी संस्करणों में भूल का परिमार्जन किया जा सके ।

निवेदक

शांतिलाल सांड

संयोजक साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा. सा. जैन संघ. समता भवन, वीकानेर ।

अनुक्रमणिका

1

गहन नयवाद

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव।। 1 ।।
सामान्ये करी दरिशण दोहिलुं , निर्णय सकल विशेष,
मद में घेरयो रे अंधों केम करे, रवि शशि रूप विलेख।। 2 ।।
हेतु विवादे हो चित्त धरी जोईये, अति दुर्गम नयवाद,
आगमवादे हो गुरगम को नहीं, ए सबलो विषवाद।। 3 ।।

ये अभिनन्दन जिन भगवान् की प्रार्थना की कड़ियाँ हैं। वस्तुतः जिनका जीवन अभिनन्दनीय है, जगत् के लिए आदरणीय है, प्रत्येक भव्य आत्मा के लिये आदर्श है, ऐसे अभिनन्दन भगवन् के दर्शन की अभिलाषा रखना भव्य प्राणियों के स्वरूप के अनुरूप ही है। लेकिन अभिनन्दन भगवान् ने जो अपने दर्शन के स्वरूप जनता के सामने रखा वह स्वरूप प्रत्येक प्राणी के लिए सम्यक् श्रद्धा की भावना से ग्रहण करने योग्य है। प्रभु अभिनन्दन के दर्शन ऐसे तो कठिन बतलाये गये हैं क्योंकि उस तरीके के मार्ग बताने वालों की कमी है। कवि की कल्पनाए उस दर्शन के स्वरूप को समझाने की तरफ दौड़ती हैं पर साथ ही वह उलझन मे पड़ जाता है। क्योंकि दुनियां के अन्दर कई व्यक्ति ऐसे हैं जो एकान्त दृष्टिकोण से स्वयं के अहंकार की पुष्टि के लिए बोलते हैं कि अभिनन्दन भगवान् का मार्ग हमारे पास है। उस मार्ग पर तुम चलोगे तो एक रोज उनके दर्शन कर पाओगे। ऐसे एक नहीं, कई व्यक्ति अपनी–अपनी अहं भावना का

पोषण करने के लिए कहा करते हैं और जन—साधारण का मस्तिष्क उन वादों के अन्दर उलझ भी जाता है। क्योंकि एकान्तवादी कथन करने वाले पुरुष भी अपने मत की पुष्टि के लिए कई हेतु और तर्क दे डालते हैं। व्यक्ति उस तर्कवाद में फंस करके सही चीज का पता नहीं लगा पाता और एकान्तवादी की मनमानी चलती रहती है। इसलिये अन्तर की स्फुरणा बोल उठती है :—

हेतु विवादे हो चित्ता धरी जोईये,
अति दुर्गम नयवाद।
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं,
ए सबलो विषवाद।।

उस एक—एक दृष्टि को लेकर चलने वाले पुरुषों के तर्कवाद होते हैं। हेतु के साथ तर्क लगता है तर्क के साथ वे कारण देते हैं। हेतु, तर्क और कारण, इन तीनों का प्रयोग प्रायः मनुष्य अपनी बुद्धि की तीव्रता बताने के लिये किया करता है। यदि ये तीनों चीजें निरहंकार और अनेकान्त दृष्टिवाले के पास हैं तो वे प्रभु के मार्ग की ओर मोड़ने वाली बन जाती हैं। और यदि अहंकारी मनुष्य के पास हैं तो अहंकार के साथ एकान्तवादी हैं। एकान्त दृष्टि दुनियां को किसी भी पलड़े पर लगने नहीं देती। मस्तिष्क को इस प्रकार लथेड़ती हैं कि जिससे मनुष्य हैरान हो जाता है। नय—निक्षेप सप्तभंगी आदि का ज्ञान हर एक को नहीं होता। कौन क्या बात रखता हैं इसका पता नहीं लगता। दुनियां के तीन सौ तिरेसठ पाखण्ड मत किस प्रकार व्यक्ति को अपनी ओर खींचने की चेष्टा करते हैं, इसका भी हर व्यक्ति को ख्याल नहीं होता। इसलिये बड़े—बड़े व्यक्ति उलझ जाते हैं। स्कूल की बड़ी डिग्री प्राप्त प्रोफेसर, वकील आदि—आदि भी उस चक्र में आ जाते हैं। उस चक्र में आने का कारण क्या है ? इसका कारण है उन्होंने डिग्री प्राप्त की हैं पर इस तन्त्र को समझा नहीं है। वे वकील भी बने तो किस बात के ? वे हेतु तर्क का आश्रय लेकर विवाद करने पर तत्पर है पर किसके ? कानून के ! आध्यात्मिक दृष्टि की वकालात प्रायः उन्हें नहीं आती। इस वजह से उनके सामने कोई सहज बोल देता है, एकान्त रूप से कोई कथन कर देता है कि मैं

तुम्हे जो रास्ता बताऊं उससे तुम्हारी आत्मा विकसित हो जायगी तो वे भी प्रायः उसके कथन मे आकर चकरा जाते हैं। फिर साधारण लोग जो इतने पढ़े–लिखे नहीं होते वे यदि मान लें तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? वे प्रायः यही सोचते हैं–उस आदमी ने मान लिया तो हम भी क्यों न मानें ? अगर तथ्य नहीं होता तो इतने बड़े आदमी कैसे मानते।

पर साधारण लोगों को यह पता नहीं कि आध्यात्मिक दृष्टि से वे तुम्हारे ही भाई हैं। भौतिक दृष्टि व अक्षरीय ज्ञान की दृष्टि से भले ही वे विद्वान बन गये, डिग्रीयें प्राप्त कर ली पर आध्यात्मिक दृष्टि से वे कभी जीरों भी हो सकते हैं। बल्कि इस माने में कभी–कभी साधारण व्यक्ति इन उपाधिधारियों से आगे बढ़े हुए भी हो सकते हैं। अतः एकान्तवाद में मानव उलझे नहीं इसलिए संकेत दिया है–'हेतु विवादे हो चित्त धरी जोईये, अति दुर्गम नयवाद।'

नयवाद को समझना सरल नहीं है। बड़ा दुर्गम है। नय की बातों को रट लेना एक अलग बात है पर उनको हृदयंगम करना दूसरी बात है। सात नय के नाम हर कोई व्यक्ति याद कर लेगा पर उनका प्रयोग कहां कहां होता है उसका पता शायद कइयों को नहीं रहता। शास्त्र में आगम दृष्टि से वर्णन आया है। वहां विद्वानों ने भावों को समझाने की जो चेष्टा की है वह नयों के साथ की है।

भगवान् महावीर की वाणी सात नयमय होकर वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रतिपादित करती है। यदि नय का स्वरूप सामने नहीं हो तो व्यक्ति आगम वाक्य से भी उलझ सकता है। आप सुनते हैं–

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था, सेणियनामं राया होत्था, चेलणादेवी, गुणसिलाए चेइए, बण्णओ।। 1 ।।
तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे अज्जसुहम्मस्स समोसरणं, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ पस्सिा पडिगया।। 2 ।।

अनुत्तरोववाइयदशांग सूत्र

अब यहां शास्त्र के वाक्य को लेकर यदि कोई आजकल का तर्कवादी एकान्तवादी, आपके सामने आकर खड़ा हो जाय और पूछे कि–बोलो साहब, ये वाक्य किसने कहे ? तो उत्तर दोगे–भगवान् महावीर ने कहे। वह कहता है–भगवान् महावीर ने किस

फरमाये ? साहब, यह तो पता नहीं। सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को कह रहे हैं। वह तर्कवादी कहेगा–सुधर्मा स्वामी ने यह बात कही है तो वे किस समय में थे ? आप कहेंगे–भगवान् महावीर की उपस्थिति में थे। तर्कवादी आगे कहेगा–अच्छा साहब, भगवान् महावीर और सुधर्मा स्वामी समकालीन हुए। उस समय भगवान् किसी भी विद्यमान नगर का निर्देश करते हैं तो 'होत्था' कैसे कहा यानि नगर था कैसे कहा ? यह तो भूतकाल की क्रिया है।

क्रिया आप जानते हैं भूत, भविष्य और वर्तमान काल की यों कालभेद से तीन प्रकार की होती है। यहां भूतकाल की क्रिया का प्रयोग किया यानि पूर्व में था। ऐसा क्यों नहीं कहा कि 'है'। क्या वर्तमान में नगर नहीं रहा ? 'नगर है' ऐसा करना चाहिये था। देखो साहब, इनकी बात में प्रत्यक्ष से ही विरोध आ रहा है तो यह बात कैसे मानी जाये। जैसे वर्तमान में 'मन्दसौर है' कहा जायगा, लेकिन वर्तमान मे कोई बोल उठे 'मन्दसौर नगर था' तो क्या यह ठीक है ? साधारण भाई चक्कर मे पड़ जाएँगे कि बात तो ठीक है। जम्बू स्वामी को समझाते हुए सुधर्मा स्वामी को यह कहना चाहिये था कि इस समय राजगृही नगरी है। यह नगरी है यह नहीं आया बल्कि 'थी' (होत्था) यह शब्द आया। इससे मालूम होता है कि शास्त्र लिखने वालों को भूत, भविष्य, वर्तमान की क्रियाओं का भी पूरा ज्ञान नहीं था। यह ज्ञान तो आज के विद्यार्थियों को भी होता है और जिनको भगवान् कहते हैं उनको इन क्रियाओं का भी ज्ञान नहीं। यह प्रत्यक्ष से विरोध आता है। इसलिए भगवान् पर श्रद्धा कायम रखनी है तो उद्घोपित कर देना चाहिये कि ये शास्त्र भगवान् के कहे नहीं हैं। यदि ऐसा घोषित नहीं करोगे तो भगवान् पर श्रद्धा नहीं रहेगी, उनका सर्वज्ञत्व नहीं रहेगा, आदि दलीलें देकर कई व्यक्ति जन साधारण को भ्रमित कर सकते हैं। लेकिन इस प्रकार का कथन सात नियमिश्रित शास्त्रवाक्यों का भलीभांति ज्ञान नहीं होने का परिणाम है।

देखना यह है कि यहां पर राजगृही नगरी के विद्यमान होते हुए भी जो यह वचन कहा गया है कि 'होत्था यानि 'थी' तो वह भी एक नय की दृष्टि से कथन है। वह असत्य नहीं है, गलत नहीं है,

वीतराग वाणी से विपरीत नहीं है। सात नय में से पांचवे नय वाला कहता है–जिस समय अवस्थान है उस समय 'है' रहता है पर भूतकाल का नक्शा और होता है। पांचवे शब्दनय वाला कहता है जब भगवान् ने वर्णन किया उस समय भगवान् का समवशरण था। उस समय की राजगृही नगरी 'होत्था' थी। उस काल उस समय मे यानि भगवान् महावीर जब थे उस काल की नगरी की पर्याय दूसरी थी और जब सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा तब वह पर्याय बदलकर दूसरी पर्याय उत्पन्न हो गई थी। इस कारण यहां होत्था शब्द का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग भी यथार्थ है। इसमें तर्क कर जन साधारण को भ्रम में नहीं पड़ना है। यह नयवाद समझना दुर्गम है।

इसी नयवाद को लेकर भगवान् के मार्ग में बाधा पैदा करते हैं और साधारण व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अहंभावी एकान्तवादी अपने पक्ष में मोड़ने की चेष्टा करते हैं। एक व्यक्ति कहता है–यह सब इस प्रकार के वेश में बैठना, साधु बनना आदि कुछ नहीं है। बस मुँह से उच्चारण कर दिया, भगवान् के दर्शन हो गये। आगे की क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मन में सोच लिया तो हो गये दर्शन। आगे अब जो कुछ भी कर रहे हो, करते रहो, खूब खाते पीते मौज उड़ाते रहो। तुमने हाथ जोड़ लिया तो हो गया काम। एक व्यक्ति ऐसा कहता है तो कोई दूसरा बोलता है–अरे, तू गलत कहता है। क्या मुंह से बोलने मात्र से काम हो गया ? अगर ऐसा होता तो भोजन भी ऐसा ही होना चाहिये। वह तर्क भी देता है कि जैसे भोजन शब्द का मुंह से उच्चारण करने मात्र से पेट नहीं भरता, हाथ में भोजन लेने से पेट नहीं भरता, कल्पना करने से पेट नहीं भरता। ऐसे ही तुम्हारा कहना मिथ्या है। मैं भगवान के दर्शन करने के लिए बताता हूं कि तू वचन, आँखें, कान जीभ, शरीर इन सबको एक रूप में कर ले, एकाग्र बन जा। बस एकाग्र बन गया तो भगवान् के दर्शन हो गये। आगे कुछ करने की आवश्यकता नहीं।

पहला वादी कहता है केवल हाथ जोड़ लिया बस। पर मैं ऐसा नहीं कहता। मैं तो कहता हूँ–पांच इन्द्रियों को एक रूप में कर लिया तो भगवान् के दर्शन हो गये।

तीसरा कहता है–यह भी मिथ्या है। पाँच इन्द्रियों और मन को एकाग्र करने मात्र से ही भगवान् के दर्शन नहीं होते। इस प्रकार की एकाग्रता की स्थिति तो डाक्टर भी करता है, वकील भी काम पर बैठता है तो एकाग्र हो जाता है, व्यापारी भी ग्राहक आता है तो एकाग्र बन जाता है। क्या इससे उनको ईश्वर के दर्शन हो गये ? वह कहता है–इससे भगवान् के दर्शन नहीं होते। मैं बताता हूँ वह मार्ग कौनसा है ? किसी भी जीव को सताने की स्थिति नहीं रहे। भगवान् की भक्ति में बैठने की दृष्टि से सादी पोषाक, शरीर के ऊपर पहने जाने वाले गहनों का परित्याग, हिंसा, झूठ आदि का परित्याग और पूर्ण त्याग की पोषाक जिसमें मुंह से भी हिंसा नहीं हो, मुंह का थूक भी किसी पर न गिरे, ऐसी त्याग–सूचक पोषाक पहनकर बैठ जाना है। किन्तु तब भी यदि मन इधर–उधर हो गया तो क्या दर्शन हो जायगा ?

चौथा कहता है–ऐसा तो बहुरुपिया भी कर लेता है। बहुरुपिया को आप जानते हैं ? जो विभिन्न पोषाकें पहनकर स्वांग बनाता है। तो चौथा कहता है–मन उस दर्शन में रहना चाहिये तो भगवान् के दर्शन हो सकते हैं। वह अन्दर के विचारों से दर्शन का सम्बन्ध जोड़ता है।

पाँचवां कहता है–तू दर्शन का स्वरूप नहीं समझता। दर्शन तो मन में जड़ का भी किया जाता है। तिजोरी के भी दर्शन किए जाते हैं। फिर भावना का नाम लिया जाय तो क्या होता है ? यदि उसे भगवान् के दर्शन करने ही हैं तो अपनी शक्ति लगाने से हो सकते हैं। ज्ञान की शक्ति का उद्योत करके आत्मा के अन्दर यदि देखने की चेष्टा की जाती है तो भगवान् के दर्शन हो पाते हैं। इसलिये मैं कहता हूं सो ठीक है।

छठा कहता है–नहीं, तू भी गलत है। भाई, जिस ज्ञानशक्ति से आत्मा को देखने की चेष्टा करता है दो मिनिट आत्मा की स्थिति का ध्यान कर लेता है और दस मिनिट उठ जाता है। फिर घण्टे भर बैठता है, फिर उठ जाता है। इस प्रकार भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। भगवान् के दर्शन करने के लिए स्थायी शक्ति आनी चाहिये। ज्ञान शक्ति एक सरीखी बनी रहे तो दर्शन हो सकते है, और वैसी शक्ति कब होती है ? जब केवल ज्ञान होता है। केवल ज्ञान होने पर

ही भगवान् के दर्शन किए जा सकते हैं।

सातवां कहता है–इसे भी मैं पूर्ण दर्शन नहीं मानता। क्योंकि केवली भोजन करते हैं, चलते है, उठते–बैठते हैं, उपदेश देते हैं। उस समय शुद्ध स्वरूप में विक्षेप रहता है। दर्शन तो जब हर क्षण, हर समय सिद्ध अवस्था में रमण किया जावे तब होता है।

सातों वादी अपने–2 अभिमत एक–एक नय को मुख्य मानते हुए ऐकान्तिक प्रतिपादन करते हुए एक–दूसरे को गलत बताते हैं और दूसरों का तिरस्कार करते हैं। इस प्रकार वे प्रभु के दर्शन नहीं कर पाते। उनको समझाने के लिए समन्वयवादी महात्मा स्याद्वाद के साथ उनको जोड़ देंगे। वे कहेंगे–तुम एकान्त प्रतिपादन करते हो तो गलत है, मिथ्या है। वह भगवान् का मार्ग नहीं, दुनय है, सद्नय नहीं। यदि सद्नय पूर्वक वीतराग प्रभु के मार्गनुसार भगवान् के दर्शन करना है तो सातों नयों का अपेक्षादृष्टि से समन्वय करना होगा। प्रथम व्यक्ति ने जो कहा वह भी ठीक है। वह मन में भावना रखता है, हाथ जोड़ता है। यह दर्शन की शुरूआत की भूमिका है। मन में भावना पैदा नहीं होगी, हाथ नहीं जोड़ेगा तो आगे का क्रम कैसे बढ़ेगा ? पर हाथ जोड़ने से ही दर्शन हो जायेंगे यह एकान्त सोचना गलत है। उसके साथ पांच इन्द्रियों और मन को दर्शन रूप लक्ष्य में जुटाना भी आवश्यक है। अगर प्रथम को ही लेंगे और दूसरे को नहीं लेगें तो दर्शन नहीं हो पायेंगे। फिर तीसरा जो कहता है एकाग्रता को कार्य रूप में परिणत करने के लिए पोषाक भी पहननी आवश्यक है। वह भी एक दृष्टि से ठीक है। यदि पोषाक पहन कर बैठेगा तो साधना की आगे की स्थितियां ठीक बनेंगी। खुला रहा और एकाग्र भी है तो घर का कोई सदस्य हाथ पकड़ कर उठा भी सकता है। इसलिए पोषाक धारण कर बैठना भी आवश्ययक है। चौथा जो कहता है कि मन को उस दर्शन में रखना चाहिये वह भी ठीक है। पांचवां भी आगे ज्ञान शक्ति प्रारम्भ में दो मिनिट जोड़ते–2 बढ़ायेगा तो धीरे–धीरे चौबीस घण्टे भी ज्ञानशक्ति के साथ देखने लग सकता है। इसलिए इसे भी साथ लेकर चलना है। छठा केवलज्ञानी को मानता है तो केवलज्ञान भी तब होगा जब कि प्रारम्भ से ही विकास करता जायेगा।

उस विकास के बाद ही शरीर छूटने पर सिद्ध स्वरूप अवस्था प्राप्त होगी। उस अवस्था में भोजन विहार आदि सब छूट जायेंगे। लेकिन यह अवस्था प्रथम नय की स्थिति से प्रारम्भ होगी तब आयेगी, बीच में से नहीं टपकेगी।

अपने–अपने स्थान पर सब नय महत्वपूर्ण हैं। एकान्तवादी बन कर किसी मत को पकड़ना वस्तुतः प्रभु के दर्शन में सहायक नहीं होगा। सातों नयों को साथ लेकर चलना चाहिये। और अपेक्षादृष्टि से ही वस्तु का प्रतिपादन होता है। जब वस्तु के समग्र रूप को मुख्य करके वर्णन किया जायेगा उस समय पर्याय दृष्टि गौण होगी, और जिस समय पर्याय दृष्टि का वर्णन किया जायेगा उस समय समग्र वस्तुदृष्टि गौण होगी। इस प्रकार नय के सातों भेद भगवान महावीर ने सापेक्ष दृष्टि से बतलाये लेकिन उस दृष्टि को मुख्य रूप से बुद्धिमान पुरुष ही समझ सकता है। अन्य एकान्तवादी पूरा समझ नहीं पाते। दार्शनिक दृष्टि से कहा भी है :–

अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम्।।

स्याद्वादमंजरी 23 का०

श्लोक में बताया है कि जहां समग्र वस्तुस्वरूप का चिन्तन किया जाता है वहां पर पर्याय की दृष्टि मुख्य नहीं रहती। जब उसी वस्तु को सूक्ष्म दृष्टि से सोचने का प्रसंग आता है और वस्तु के अन्दर रहने वाले एक एक धर्म का चिन्तन करना होता है वहां फिर पर्याय–दृष्टि प्रमुख बन जाने से वस्तु–दृष्टि गौण बन जाती है। उपयोग की स्थिति से बारीकी में उतरना पड़ता है। फिर द्रव्य नहीं रह कर अपेक्षा से पर्याय आ जाता है। जब व्यवहार और निश्चय दोनों सापेक्ष रूप से मुख्य गौण भाव से समझे जाते है तब निश्चय व्यवहार से सर्वथा अलग नहीं पड़ता और न व्यवहार निश्चय से सर्वथा अलग पड़ता है।

मैं ज्यादा सूक्ष्मता में न जाकर आपको इतना ही बता देना चाहता हूँ कि आप प्रभु के दर्शन के लिये एकान्तवादी मतों में न पड़ते हुए उनके समन्वय को लेकर चलेंगे और अपनी शक्ति को समन्वय के साथ सातों नयों को गौण मुख्य भाव में समझते हुए यथोचित रूप से

आगे बढ़ेंगे तो अपनी शक्ति को केन्द्रित कर प्रभु के दर्शन कर सकेंगे।

एक व्यक्ति सोचे—प्रथम कक्षा ही सच है, आगे की कक्षाएँ सब मिथ्या हैं तो क्या ठीक है ? नहीं। दूसरा कहता है—प्रथम कक्षा तो मिथ्या है क्योंकि उसे छोड़नी पड़ती है। तो क्या वास्तव में प्रथम कक्षा मिथ्या है ? नहीं। अगर ऐसा माना जाएगा तो आप किसी काम में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। ग्यारहवीं कक्षा में जाने वाले को दसवीं कक्षा छोड़नी पड़ती है तो क्या दसवीं कक्षा मिथ्या हो गई ? वह मिथ्या नहीं हुई। दसवीं का अध्ययन ग्यारहवीं में काम आता है। एक कक्षा दूसरी के लिए मददगार होती जाती है।

शास्त्रीय दृष्टि से 14 गुणस्थान माने गए हैं। वे एक प्रकार से चौदह कक्षाएँ हैं। चौथे गुणस्थान से आध्यात्मिक कक्षा चालू होती है। पांचवें गुणस्थान में जायेंगे तो चौथा छूट जायेगा। छठे सातवें गुणस्थान में जाने पर पांचवा छूट जाता है। इसी तरह ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें में जाने पर नीचे के गुणस्थान छूट जाते हैं। तो क्या सभी गुणस्थान मिथ्या हो गये ? चौदहवें में गये तो तेरहवां भी छूट जायेगा।

एक सीढ़ी होती हैं उसकी हर पायरी अपने—अपने स्थान पर महत्वपूर्ण है। पहली पायरी भी आवश्यक है, दूसरी भी आवश्यक है, वैसे ही आखिरी भी आवश्यक है। दूसरी पायरी पर चढ़ेगा तो पहली छोड़नी ही पड़ेगी। यह छोड़ना यथार्थ है। वास्तविक है। इतना जरूर ध्यान रखना चाहिये कि मंजिल पायरी नहीं, मंजिल पायरियों से परे है। अगर यह लक्ष्य में आ गया तो दुर्गम नयवाद में आप उलझेंगे नहीं और महत्वपूर्ण जीवन को साकार करते हुए आगे बढ़ सकेंगे।

मनुष्य को प्रारम्भ से ही अन्त तक चलना चाहियें। वहीं स्थिति वास्तविक होती हैं। माता के संस्कार बचपन में जैसे आ गये, चाहे वह गर्भ में ही हो, वे संस्कार व्यर्थ नहीं जायेंगे।

सम्यग्दृष्टि जीव, जो नयवाद को समझकर चलता है,उसका नक्शा कुछ और ही होता है। ऐसे भव्य प्राणी जब माता की कुक्षि में आते हैं तो माता की स्थिति क्या होती है, इसका वर्णन कथाभाग में आपके सामने चल रहा है। जंगल के अन्दर मुनिराज नल को समझा रहे है और दमयन्ती के विषय में वर्णन कर रहे हैं। दमयन्ती में जो

शक्ति व्यक्त हुई उसके पीछे क्या कारण है, इसका स्पष्टीकरण महात्मा दे रहे हैं–

पुष्पदंती महारानी, जो कुन्दनपुर में भीम नरेश की पत्नी थी, अपनी शय्या पर शयन कर रही थी। महारानी को हर समय कोई स्वप्न नहीं आया करते थे क्योंकि उसका मन स्वस्थ था। जिसका मन स्वस्थ (तन्दुरुस्त) रहता है उसको एकाएक बहुत तरह के स्वप्न नहीं आते। पर जिन मनुष्यों का मन अस्वस्थ है, शरीर में रोगादि की स्थिति है तो वे प्रायः रात में भयंकर स्वप्न देखा करते हैं। डरावने दृश्य और दूसरे–2 दृश्य भी देखते हैं। पर महारानी मन की दशा से स्वस्थ थी। मानसिक दशा विचारों से बनती है। जिनका मस्तिष्क ठीक है, निर्मल है उनका जीवन भी ठीक तरह से चलने में सक्षम रहता है।

महारानी सुन्दर जीवन की स्थिति को लेकर शान्ति के साथ अपने शयनकक्ष में सो रही थी कि अचानक उसे एक स्वप्न आया। उसने स्वप्न में देखा कि एक श्वेतवर्ण हाथी भयंकर स्थिति से विह्वल हुआ। राजभवन में प्रवेश कर रहा है। महारानी स्वप्न में देख रही थी कि जंगल में दावानल लग गया है और हाथियों का समूह उसमें जल गया है। यह हाथी उस भयंकर विपत्ति से बचने के लिए राजभवन में प्रवेश कर रहा है। वह हाथी महारानी के पास आकर बैठ जाता है। महारानी इस स्वप्न को देखकर सोचने लगी कि मैंने इस प्रकार का दृश्य पहले कभी नहीं देखा। आज यह स्वप्न क्यों देखा है ? इस स्वप्न के फल की क्या स्थिति है ? नींद भंग होने के साथ ही साथ वह स्वस्थ होकर पलंग पर बैठती है और प्रभु का ध्यान करती है। इस स्वप्न का क्या अर्थ है, इसकी अपने पतिदेव से जानकारी तो प्राप्त कर लूँ। वह वहां सें उठकर गज–गति के साथ पतिदेव के शयनकक्ष में पहुंचती है।

प्राचीन काल के इस नक्शे को भी ध्यान में लेने की आवश्यकता है पहले व्यक्ति किस ढंग से चलते थे, यह कथा भाग से आपको देखना है। शयन की दृष्टि से उनके अलग–अलग शयनगृह होते थे। रात्रि के समय वह महारानी स्वप्न को देखकर उठी और महाराज के शयनगृह में पहुँची। उसके मन में इस प्रकार का भी ख्याल था कि

मेरे पतिदेव कहीं जग न जाएं। यद्यपि आई थी दिल के विचार सुनाने के लिए फिर भी उसमें विवेक था कि महाराजा की सुख–निन्द्रा भंग न करूं। स्वाभाविक रूप से निद्रा भंग हो तब में अपनी बात रखूं। वह खट–खट करके हाथ लगाकर या आहट करके निद्रा भंग करने की भावना नहीं रखती है। आज के भाई–बहिनों में इस प्रकार का विवेक है या नहीं ? आज की स्थिति बड़ी विचित्र है। कोई सोया है, उसका ध्यान न रखकर भाई–बहन धड़ा–धड़ चलेंगे, जोर–जोर से बोलेंगे, पर यह नहीं सोचते कि मैं इन्हें किस कारण और क्यों जगा रहा हूँ ? हां, कोई अति आवश्यक कार्य हो और उसके लिए जगाना पड़े तो अलग बात है पर बिना विवेक के इस प्रकार का कार्य करना ठीक नहीं।

महारानी विवेक वाली थी, स्थिति समझने वाली थी। नय–निक्षेप का यत्किंचित् उसे ज्ञान था। वह शान्ति के साथ वहां जाकर बैठ जाती हैं वह महाराजा के सिंहासन पर बैठने की चेष्टा नहीं कर रही थी। महाराज स्वयं भी इतनी गाढ़ निद्रा वाले नहीं थे। किसी–किसी व्यक्ति को नींद ऐसी आती है कि नगाड़े भी पीटें तो नींद नहीं खुले। पर महाराजा मामूली सी आहट से जग गये। बोले–कौन ?

महारानी बोली–नाथ, यह आपकी धर्मप्रिया।

'कहो–कैसे आना हुआ ?'

नाथ ! कुछ विशिष्ट कार्य के लिए आई हूँ।

महाराज ने उसे बैठने के लिए आसन दिया। यह स्थिति गृहस्थाश्रम की है। उनके विचारों की व जीवन की स्थिति किस प्रकार की है, यह भी आप समझिये। वे एक आसन पर बैठना भी पसन्द नहीं करते थे। महाराज ने स्वस्थ होने के बाद पूछा–तबियत तो ठीक है ना ?

हां महाराज, तबियत तो ठीक है, मैं कुछ विचार रखने आई हूँ। महारानी ने कहा–मैंने शय्या में सोते हुए एक श्वेतवर्ण हाथी को देखा और वह हाथी राजभवन में प्रवेश करते हुए मेरे पास आकर बैठ गया। इतने में मेरी नींद भंग हो गई। इस स्वप्न का क्या अर्थ है ? यही समझने मैं यहां उपस्थित हुई हूँ।

महाराज भी 72 कलाओं के जानकार थे। उन्होंने कहा–जिन्दगी

में ऐसा स्वप्न पहले तो नहीं आया ? महारानी ने कहा–नहीं महाराज, पहले ऐसा स्वप्न कभी नहीं आया। महाराजा कहते हैं–तुम्हारे घर में कोई पुण्यवान् आत्मा आने वाली है। तुम्हारी कुक्षि से किसी पुण्यात्मा के जन्म का प्रसंग है।

महाराजा कहने लगे–यह पुण्यवानी का उदय है। आने वाली आत्मा पुण्यशाली है क्योंकि पुण्यवानी के बिना इस प्रकार के स्वप्न की स्थिति नहीं बनती। तुमने यह अपूर्व स्वप्न देखा है। अब तुम जीवन में भक्ति भावना लाना। वापिस जाकर शयन की भावना मत रखना। मैं भी सूर्योदय तक का समय ज्ञान के साथ व्यतीत करना चाहता हूं।

ठीक है मैं भी शयनकक्ष छोड़ती हूं।

पिछली रात्रि में दोनों धर्मस्थान पर पहुँचे और धर्मजागरण में लग गये। समभाव का चिन्तन किया। फिर प्रातः तन्दुरुस्ती के लिए घूमने बाहर जाया करते थे इसलिए राजभवन के बगीचे में चले गये। महारानी और महाराज बगीचे में पहुंच जाते हैं।

घूमते समय महाराज बगीचे के वृक्षों, फूलों और प्रकृति के दृश्यों से शिक्षा देते हैं। कहते हैं–इन फूलों को देखो। यह कमल है,इसकी कितनी महक है ? यह मनुष्य के दिल को शान्त करता है। ऐसे ही तुम्हारे गर्भ में कोई न कोई ऐसी आत्मा आने वाली है, जिससे मेरा मन प्रफुल्लित महाराजा घूम रहे थे। उनमें न तो भद्दी मजाक थी, न विकारी भावना का प्राबल्य था।

बन्धुओ ! आज इन बातों की शिक्षा लेना कितना आवश्यक है। आप हर समय संसार के विषयों की बातों को ही मस्तिष्क में न रखकर जीवन–निर्माण की ओर प्रयास करेंगे तो आप अपने में सुन्दर संस्कारों का तो निर्माण करेंगे ही साथ ही आपके सुन्दर संस्कारों की छाया अपने बच्चों में भी देख पायेंगे। पर आज आपका ध्यान इस ओर कहां है ? मैं किसको शिक्षा दूं ? किसको सुनाऊ ? आपको कहूँ ? आप इन बातों पर ध्यान रखने को होंगे तैयार ? आप तो चाहते हैं–महाराज सुनाते जाएं। पर केवल सुन लेने से क्या होगा ?

महाराज और महारानी बगीचे में घूम रहे हैं। शिक्षाप्रद बातें चल रही थीं कि अचानक एक हाथी श्वेत वर्ण का आ जाता हैं देखो

क्या कुदरत बनती है। ? उधर माली, नौकर–चाकर सभी हल्ला मचाते हैं, जंगल का हाथी आ गया, बचो–बचो, महाराजा को भी आवाज देकर कहने लगे–हटिये स्वामिन् ! यह जंगल का हाथी है। पर महाराजा और महारानी दोनों मन के बड़े पक्के थे। मन से स्वस्थ थे। वे हाथी से भयभीत नहीं हुए। महारानी ने कहा–कुदरत को क्या इष्ट है ? यह वही हाथी तो नहीं है ? महाराज बोले–कह नहीं सकता पर श्वेत वर्ण का हाथी तो साक्षात है। वे वहां से भागे नहीं,उनके अन्दर निर्भयता की वृत्ति थी कि हम किसी को सताना नहीं चाहते तो कोई हमें भी क्यों सतायेगा। हाथी महाराज और महारानी के पास पहुंच गया। उसने महाराजा को सूंड में उठाकर ऊपर चढ़ाया और फिर महारानी को भी उठाया। लोग कहने लगे–अरे अनर्थ हो जाएगा। यह महाराज को पटक देगा। पर वह हाथी मारने वाला नहीं था। उसने महाराजा और महारानी को सूंड से उठाकर अपनी पीठ पर बैठाया और वहां से रवाना हो गया। नगर की जनता इस दृश्य को देखने के लिए उमड़ पड़ती है। हाथी चुपचाप नगर के बाजारों में से होता हुआ सीधा राजभवन पहुंचा। सूंड से महाराजा और महारानी को उतारा और सूंड से प्रणाम किया। बाद में जिधर से आया उधर ही रवाना हो गया।

इस दृश्य को देखकर अलग–2 व्यक्ति अलग–2 प्रकार की कल्पनाएं करने लगे। महाराजा व महारानी के मन में प्रातः काल का दृश्य आ रहा था कि आने वाले महापुरुष की कैसे रक्षा करना, कैसे संस्कार देना, किस अवस्था में रखना ? उनमें इस प्रकार का विज्ञान शास्त्रीय दृष्टि से भी था। साथ ही साथ महारानी को नय आदि का भी यत्किंचित् ज्ञान था और वह प्रारम्भिक संसकारों को भी नय आदि की दृष्टि से सोचा करती थी।

महारानी एकान्त में बैठकर सोचने लगी कि शास्त्र में नैगम नय का स्वरूप बतलाया है। जिसके जीवन में अपेक्षा दृष्टि से सोचने की क्षमता आती है वह उन्नति करता है। उसके विचार उदार सम्पूर्ण और समीचीन होते हैं। महारानी सोचने लगी–श्वेत वर्ण धर्म का प्रतीक होता है इसलिए धर्म की दृष्टि से मुझे गर्भ की रक्षा करनी चाहिये। महारानी ने बैठकर प्रण किया कि मैं अब अपने जीवन

इस प्रकार रखूं कि मेरी भावना हर समय शुद्ध बनी रहे। वह सोचने लगी–मैं ईर्ष्या द्वेष का त्याग करूं। जब तक गर्भ की स्थिति है मैं किसी के साथ ईर्ष्या नहीं करूंगी। ईर्ष्या जानते हैं ? डाह, जलन। यह क्यों बढ़ गया ? मैं पीछे क्यों रह गया ? पड़ौसी क्यों बढ़ गया ? यह क्यों सुखी है ? इस प्रकार की भावना मन में लेकर जो चलता है और उससे जलता रहता है वह ईर्ष्या से ग्रस्त है। महारानी सोच रही थी कि अगर ईर्ष्या की भावना को मैंने मन में स्थान दिया तो मेरा जीवन तो खराब होगा ही पर गर्भ के ऊपर भी वैसे ही संस्कार पड़े बिना नहीं रहेंगे। फिर वह सन्तान भी ईर्ष्या द्वेष करने वाली होगी। जिनके मां–बाप द्वेष करने वाले होते हैं उनकी सन्तान भी प्रायः वैसे ही होती है। कोई भाग्यशाली सन्तान ही उन परम्परा प्राप्त संस्कारों से बच पाती है।

आप जानते हैं सर्पिणी बच्चे देती है तो वह गोल घेरे में बैठकर देती है। वह उन बच्चों को खाने की चेष्टा करती है। उस घेरे से बाहर एकाध कोई बच्चा रह जाता है तो वह बच जाता है। उसी तरह से जो जहरीले मां बाप होते हैं उनकी सन्तान भी प्रायः भयंकर होती है। पर अपवाद स्वरूप कुछ सन्तानें मां बापों के विचारों के घेरे से बाहर पड़ कर अमृतमय जीवन का सृजन करती हैं। आज आप छोटे–छोटे बच्चों में क्या पाते हैं ? छोटा सा छोकरा गुस्सा देखो तो कैसा ? माँ बाप स्वयं अपने जीवन का ख्याल नहीं करते। इसलिए ऐसी दशा बनती है। आप ईर्ष्या द्वेष को दूर फेंकने की चेष्टा करें।

महारानी सोच रही है–आज मुझे ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना है। आज के लोग भी ऐसी मर्यादा करते होंगे ? आप अपने घर की बात सोचें। आज के मानव का बर्ताव किस ढंग का है ? कभी–कभी मेरे भाई अलोयणा के प्रसंग से स्थिति सामने रखते हैं जिससे पता चलता है कि मनुष्य की स्थिति पशु से भी बद्तर है। सुना जाता है कि मादा पशु गर्भ की अवस्था में है तो पुरुष पशु उसकी तरफ देखता नहीं। यह मर्यादा कई पशुओं में भी पाई जाती है। क्या पुरुष पशु से भी गया गुजरा है ? मनुष्य के इस प्रकार अमर्यादित रहने से भी कभी–कभी अधूरे गर्भ गिर जाते हैं। सन्तान अन्धी, लूली, रोगग्रस्त

बन जाती है। फिर कहते हैं कि इसे अमुक बीमारी हो गई, पर इसका कारण कौन बना ? बाद में डाक्टरों के पीछे फिरने की अपेक्षा तो स्वयं पहले मर्यादित रहना क्यों नहीं सीख लेते। दअसल उन बच्चों के दुश्मन माँ बाप ही बनते हैं। क्या उन्हें पशु की उपमा दी जाय ? एक दृष्टि से ऐसे व्यक्तियों को मर्यादित रहने वाले पशुओं की उपमा नहीं दी जा सकती। लेकिन जो मानव गर्भावस्था की स्थिति में अमर्यादित रहते हैं उनको किसकी उपमा दी जाय ? मैं अपने मुंह से कोई उपमा नहीं देना चाहता। आपको यह कठोर लगेगा। आपको क्यों, कठोर तो उनके लिए है जो इस प्रकार अमर्यादित जीवन व्यतीत करते हैं। यदि आपके जीवन में वैसी मर्यादा नहीं है, तो आपको वह मर्यादा लानी चाहिये।

आप जीवन में निर्मल संस्कार लेकर चलेंगे तो आपका जीवन निर्मल रहेगा। महारानी ने प्रण कर लिया कि जब तक गर्भ अवस्था है मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगी। वैसे तो उसका निर्मल जीवन पहले से भी था। फिर भी विशिष्ट प्रतिज्ञा के साथ चलने की स्थिति में वह आगे बढ़ रही है।

यह वर्णन लम्बा है। एक साथ बोल जाऊँगा तो आपकी समझ में पूरा नहीं आयेगा। इस दृष्टि से इसे यहीं तक रखकर आपको संकेत देता हूँ कि आप भी जीवन निर्माण में इस प्रकार की प्रतिज्ञाओं को लेकर आगे बढ़े।

वे महात्मा जंगल में नल राजकुमार को समझा रहे हैं। आगे प्रश्नों की क्या शुरूआत होती है गर्भ के संसकार जीवन में किस प्रकार पल्लवित होते हैं ? यह भावी के गर्भ में रहा हुआ है।

आप सातों नयों को सामने रखकर अपेक्षा दृष्टि से समन्वय करके वीतराग प्रभु के मार्ग के अनुसार जीवन बनाने का प्रयास करेंगे तो प्रभु के दर्शन कर पायेंगे।

इसी शुभ भावना के साथ।

❀❀❀❀❀

2

ज्ञानशक्ति का विकास

अभिनन्दन जिनदर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव।।1।।
घाती डूंगर आड़ा अति घणा, तुज दरिशन जगनाथ,
ढिठाई करी मारग संचरूं, सेंगु कोई न साथ।।2।।

ये अभिनन्दन भगवान् की प्रार्थना की कड़ियां हैं। यह अभिनन्दन भगवान् के नाम पर बनाई गइ स्तुति है। इस स्तुति की कड़ियों को मैं थोड़ी–थोड़ी सा उच्चारण कर रहा हूँ जिनका अर्थ करना है। उनका यत्किंचित् अर्थ करना और फिर शास्त्रीय विषय का प्रतिपादन करना अभीष्ट है। जो आप्तोपदिष्ट शास्त्रीय दृष्टिकोण है वहीं वीतराग प्रभु का दृष्टिकोण है। और यदि वीतराग दशा की ओर ध्यान गया तो हम अपने जीवन के अन्दर अभिनन्दन भगवान् के दर्शन ठीक तरह से कर पायेंगे। पर उन दर्शनों के पीछे कई बड़ी कठिनाइयां हैं। कई उलझनें आकर खड़ी हो जाती हैं, इस प्रकार की आपत्तियां हैं। कई उलझनें आकर खड़ी हो जाती हैं, इस प्रकार की आपत्तियां रास्ता रोक लेती हैं तब आगे बढ़ने पर भी दर्शन में रूकावट आ जाती है। कवि ने संकेत दिया :–

घाती डूंगर आड़ा अति घणा,
तुज दरिशण जगन्नाथ।
ढिठाई करी मारग संचरुं,
सेंगु कोई न साथ।

डूंगर आपकी भाषा में पहाड़ है। वह लम्बी–लम्बी चोटियों वाला पहाड़, विकराल भीमकाय चट्टानें, अनेक तरह की कंटीली झाड़ियों वाले पहाड़ ! क्या वे भगवान् के दर्शन में बाधक हो रहे हैं ? तो क्या भगवान् उन पहाड़ों के पीछे हैं ? यह बाहरी दिखने वाले पहाड़ों का जिक्र नहीं है, बाहरी पहाड़ पार किये जा सकते हैं, घाटियां लांघी जा सकती हैं। पर वहां कोई दर्शन मिले तब ना ! वहां दर्शन नहीं ! दर्शन तो इस जीवन में है। पहाड़ के मानिंद वे जबरदस्त घाटियां इस जीवन में रही हुई हैं। उन घाटियों को मानव समझ नहीं पाता इसलिए वह लड़खड़ा जाता है। और प्रभु के दर्शन की प्यास शान्त नहीं हो पाती।

प्रभु का नाम स्मरण या स्तुति की कड़ियां कर्णगोचर होती हैं। कर्ण के माध्यम से वे फिर अन्दर पहुँचती हैं। अन्दर में जिस स्थान पर वाक्यों के अर्थ का अनुसंधान होता है उस स्थलं पर शब्द का अर्थ पहुँचने का जब प्रसंग आता है तो चेतना उस अर्थ की ओर ध्यान देकर आत्मा के साथ संबंन्धित करने का प्रयास करती है। वहीं स्थल आन्तरिक शक्ति के निवास का भी है। शब्द रूप पदार्थ कान पर जाकर टकराता है और लौट जाता है। लेकिन कान के पर्दे पर पड़ी हुई आवाज अन्दर तक पहुँचती है। अन्दर में वह चेतना उस शब्द के अर्थ को बिखेर देती है और देखती है कि शब्द की आकृति में (उच्चारण में) क्या प्रभु के दर्शन हैं ? दरअसल शब्द की आकृति में प्रभु के दर्शन नहीं हैं। शब्द के पीछे रहने वाले अर्थ में यदि अन्तर की चेतना जुड़ जाती है तो वह संभवत प्रभु के दर्शन कर सकती है।

लेकिन कभी–कभी मेरे भाई सोच लिया करते हैं कि महाराज कहते हैं–अन्दर में प्रभु के दर्शन करो। इससे यह समझ में आता है कि एक तो हमारी आत्मा अन्दर बैठी है और दूसरे वह सिद्ध स्वरूप भगवान् भी अन्दर किसी कोने में आकर बैठा है तो इस शरीर में दो तत्व रह रहे हैं। ऐसे कई भ्रम में पड़ जाते हैं। पर आपको ख्याल रखना है कि इस शरीर में चेतना एक ही है। प्रत्येक शरीरी आत्मा एक शरीर में एक ही रहती हैं। शरीर नियन्ता रूप में एक ही आत्मा होती है। उसमें दो आत्मा एक साथ नहीं रहते। एक शरीर में एक

आत्मा ही है। सिद्ध स्वरूप का आकार अन्दर बैठा हुआ नहीं है। पर जो आत्मा इस शरीर के प्रत्येक अवयव में व्याप्त है वहीं आत्मा स्वयं ईश्वर स्वरूप है। पूर्ण ईश्वरत्व की शक्ति इस शरीर के अन्दर रहने वाले आत्मा मे विद्यमान है, लेकिन वह शक्ति छिपी हुई है। जैसे कि स्वर्ण खदान में मिट्टी के साथ घुल मिल कर रह रहा है और मिट्टी में घुला हुआ स्वर्ण जन साधारण की दृष्टि में नहीं आता। ऊपरी दृष्टि से तो मिट्टी का ढेला ही दिखता है। बहिर्दृष्टि कहेगा–स्वर्ण कहां है ? पर यदि किसी समझदार व्यक्ति को या स्वर्णकार को कहा जावे कि भाई इसमे क्या दिखता है ? वह कहेगा। इसी मिट्टी में स्वर्ण रहा हुआ है, इस मिट्टी में तुम्हें स्वर्ण मिलेगा। वह स्वर्णकार उस मिट्टी में स्वर्ण देखने के लिये कहता है। वह मिट्टी और स्वर्ण को अलग–अलग करने की कोशिश करता है। उसी से निखालिश स्वर्ण सामने आ जाता है।

जैसे स्वर्ण मिट्टी में रहा हुआ, वैसे ही सत् चित् आनन्द घन–रूप ईश्वर की समग्र शक्ति इस शरीर के अवयवों में छिपी हुई है। वह है चेतन्य। उसे देखने के लिये सम्बोधन किया जाता है कि तू अपने अन्दर में रहने वाले भगवान् को जल्दी देख नहीं पायेगा, अतः सिद्ध अवस्था में रहे हुए भगवान् के आदर्श स्वरूप को अपनी ज्ञानशक्ति में ग्रहण कर और उस आदर्श स्वरूप भगवान् के तुल्य भगवान् को इसी शरीर में खोजने के चेष्ठा कर। क्योंकि वह ईश्वर तेरे इस शरीर के अवयवों से भी आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक नजदीक है। तुझे बाहर जाने की आश्यकता नहीं है। घर मे ही तुझे वह विज्ञान मिल जायगा। पर मिलेगा कब ? जिस आदर्श रूप में प्रभु का उच्चारण किया गया है उस उच्चारित शब्द को छोड़कर शब्द में रहने वाले रस रूप अर्थ को लिया जायगा तब।

एक व्यक्ति गन्ने के रस को चखना चाहता है। उस व्यक्ति से पूछिये कि तू यदि मीठा रस अपने पेट में डालना चाहता है तो गन्ने के टुकड़े क्यों चूसता है ? गन्ने के टुकड़ों को लेकर के चूसता है या कुछ अन्य वस्तु ? गन्ना जानते हैं आप ? इस वक्त सामायिक के अन्दर उसे नहीं चूसना है। यहां मैं किसी दूसरे गन्ने का रस चबाना

चाहता हूं। यह तो रूपक है वह भाई गन्ने के टुकड़ों को चूसता है पर रस चूसने के बाद निस्सार भाग को छोड़ देता है और रस को शरीर में परिणत कर लेता है।

वैसे ही ये कविता के टुकड़े, ये शब्द के गन्ने हैं आप चबा मत जाइये, इनको चूसिये। चूसने का मतलब है—इनमें से आत्मिक आत्मा के स्वरूप की प्रेरणा कैसे मिलती है, इस तरह के भाव अर्थों को लेने की चेष्टा करिये। यदि रस आ जाये, तो शब्द की व कविता की कड़ियों को एक तरफ छोड़ दीजिये और उन अर्थों के साथ अन्दर की चेतना का सम्बन्ध जोड़ दीजिये। चेतना से सम्बन्ध जुड़ जायगा तो वह अर्थ चैतन्य शक्ति को प्रकट करने के लिए अन्दर जड़ों के रूप में पलेगा और चैतन्य शक्ति अपने आप में विकसित रूप से प्रकट कर सकेगा।

आपको मालूम है—आम का बहुत बड़ा झाड़ किससे रस पाता है? आम का झाड़ बड़ा होता है तो किसके आधार पर? आम की गुठली के आधार पर। गुठली के अन्दर कुछ तत्त्व है, उगने की शक्ति है। पर उगेगी कब? जब कि उसको जमीन के अन्दर डाला जायगा। धरती के अन्दर में से वह उगेगी। पर कभी आपने यह भी ख्याल किया कि जब पौधा बाहर आता है तो क्या गुठली बाहर आती है? या उसका विकृत रूप बाहर आता है? गुठली स्वयं विलीन हो जाती है, अपने अस्तित्व को खो देती है। पर वह दो ओर से विकसित होती है। एक ऊपर के पौधे के रूप में और एक भाग जड़ों के रूप में। जड़ें फैलती हैं उस वक्त गुठली का रूपक या नहीं देखेंगे। उसने अपना अस्तित्व गमाया और अन्दर जड़ों के रूप में वह बाहर पौधे के रूप में दूसरा अस्तित्व प्राप्त किया है। वे जड़ें मिट्टी में है और मिट्टी से आम्र वृक्ष के बनने योग्य जितना रस है उस रस को जड़ें अपने माध्यम से खींचेगी। वहां पर रासायनिक प्रक्रिया बनी रहेगी।

आज का मानव प्रयोगशाला की रासायनिक प्रक्रिया को देखकर विचार में पड़ जाता है, कि विज्ञान की प्रयोगशाला में कैसी विचित्र प्रक्रिया हो जाती है। देखो ना, जो स्वर्ण पत्थर है गुरु

दिखता था उससे स्वर्ण–भस्म बना दी गई, स्वर्ण के वर्क बना दिये गये। अमुक रासायनिक प्रक्रिया से इन्जेक्शन बन गया। इन रासायनिक प्रक्रियाओं को देख–देख कर मानव के मन में नया आश्चर्य पैदा होता है।

पर मैं सोचता हूँ–मानव की दृष्टि प्राकृतिक तत्वों की ओर प्रायः कम जाती है। अगर आप वृक्ष की तरफ ध्यान देगें तो उसमें कितनी जबरदस्त रासायनिक प्रक्रिया का दृश्य मिलेगा। बारीक दिखाई देने वाली जड़े जमीन में से, मिट्टी में से, कैसे रस खींच लेती हैं ? मिट्टी का एक ढ़ेला रख दीजिये क्या आप उसमें से आम का रस निकाल सकेंगे ? क्या आप में ऐसी ताकत है ? नहीं। क्या वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा आम का रस मिट्टी में से निकाला जा सकता है ? नहीं पर आम का रस बनाने की कला उन जड़ों में रही हुई है। जड़ें अन्दर जाती है तो कहां कहां पहुंचती हैं ? कोई चट्टान भी आड़ी आती है या नहीं ? पत्थर और कंटक रास्ते में बाधक बनते हैं या नहीं ? जड़ें चट्टान की परवाह नहीं करती, कंटीले स्थल की परवाह नहीं करती। कदाचित् उसी जमीन मे अफीम की डली भी पड़ी हो। वह भी चारों तरफ अपना प्रभाव दिखा रही हो तो भी क्या वे जड़े उसके जहर से प्रभावित होती हैं ? नहीं। वे जड़े कहीं नहीं रुकती और अपने कार्य की तरफ बढ़ती हुई मधुर रस से परिपूर्ण फल पैदा कर देती हैं।

आप चेतना की तरफ ध्यान दीजिये। शुद्धस्वरूप भगवान् का नाम अन्दर में जाकर एक प्रकार के रस के रूप में फैल जाता है और हड्डी रूपी चट्टान या अन्दर जो अनेक तरह के कर्मो की चट्टानें हैं, जिनमें आत्मा का शुद्ध स्वरूप छिपा हुआ है, उनमें यदि वह सत्चित् आनन्द–घन रूप आत्मा का ज्ञान जड़ रूप में पहुँच जाय तो घनघाती कर्म रूप डूंगर भी उसमें बाधक नहीं बन सकते। आड़े डूंगर हैं यानि घाती कर्म हैं। घाती कर्म जानते हैं ? ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती कर्म हैं। ज्ञानावरणीय घाती कर्म है। आत्मा का प्रमुख स्वभाव ज्ञान है और इस ज्ञान शक्ति को आच्छादित करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म पहाड़ के रूप मे आड़ा आता है। उसके शास्त्र में संक्षेप में पांच भेद किये हैं–

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिवोहियं।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणां च केवलं।।

उ.सू.अ. 33 गा. 4

यह शास्त्र का उद्घोष है। वह ज्ञानावरणीय कर्म पांच विभागों में विभक्त है। पांच विभागों के रूप में आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित कर रहा है। लेकिन आत्मा की शक्ति उन पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्मों की तरतमता से विकास के रूप में आती है तो उस शक्ति के भी पांच विभाग बन जाते हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यायज्ञान और केवल ज्ञान। इन को आच्छादित करने वाले कर्मो की संज्ञा गिनाई गई है। वह इस प्रकार है—आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्म, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म, अवधिज्ञानावरणीय कर्म, मनपर्यवज्ञानावरणीयकर्म, और केवलज्ञानवरणीय कर्म। आत्मा की अखण्ड ज्योति पर पांच तरह के ढक्कन लगे हैं। उन पांच तरह के ढक्कनों को हटाना सहज नहीं समझो। बाहर की चट्टान तो सहज तोड़ी जा सकती है, वक्त पर इन्हें तोड़ने के लिए सुरंग लगाने की आवश्यकता रहती है। जो बाहर की चट्टाने हैं उनका यह हाल है। लेकिन जीवन के अन्दर की चट्टानों को उन बाह्य साधनों से तोड़ना शक्य नहीं। उस कर्म रूप अन्दर की चट्टान को तोड़ने के लिए विवेक शक्ति को जागृत करने की आवश्यकता है। उसी विवेक शक्ति के साथ सिद्ध शब्द की अर्थरूप शक्ति को जीवन के अन्दर ज्ञानरूपी जड़ों की तरह फैलाई जाय तो वह कर्म रूपी चट्टानों के नीचे पहुंचकर शुद्ध स्वरूप के रस को खींचती हुई एक रोज पूर्ण विकास का अंकुर उत्पन्न कर देती है और वह अंकुर केवल ज्ञान रूपी वृक्ष के रूप मे पल्लवित हो सकता है।

एक विद्यार्थी बिल्कुल अबोध है। वह पढ़ने के उद्धेश्य से शाला में पहुँचा। उसे अक्षर का ज्ञान बिल्कुल नहीं है। अध्यापक ने ब्लेक बोर्ड पर अक्षर लिखा, स्लेट पर लिखा और बच्चे से कहा—देख 'क' ऐसा होता है। क्या बच्चा उस बोर्ड पर लिखे अक्षर को पी लेता है या उस अक्षर अथवा वर्णमाला को चाट जाता है ? क्या करता है ? वह न घोटकर पीता है, न चाटता है। वह देखकर उसे वहीं छोड़

देता है और अन्दर में चिन्तन करता है कि 'क' ऐसा होता है। 'ब' की आकृति ऐसी होती है। ऐसा चिन्तन करते–करते वह स्वतः अन्तर में उस वर्णो को व्यक्त कर लेता है। लेकिन उन अक्षरों को ही सब कुछ समझकर नमस्कार आदि नहीं करता। बाहर के ब्लेक बोर्ड के 'क' को छोड़ देता है। फिर उस बच्चे से कहा जावे कि यहां स्लेट नहीं है, इस पन्ने पर लिखना है तो वह उस पन्ने पर लिख देगा। अध्यापक ने घोटकर पिलाया नहीं, उसने चाटा नहीं पर उसको अन्दर से विकसित किया। वह अक्षर स्थायी हो गया। चाहे अक्षर हिन्दी का हो, इंग्लिश का हो, उर्दू या पारसी की वर्णमाला का हो, वह अन्दर में अलग–अलग भाषाओं के संस्कार बैठाता है और अक्षरीय ज्ञान की उपलब्धि होती है। पर फिर भी वह एक दृष्टि से वास्तविक ज्ञान नहीं है।

आप थोड़ा एकाग्रचित्त से विचार कीजिये। आप सोचेंगे कि फिर ज्ञान किसको कहेंगे ? यदि वह वास्तविक ज्ञान नहीं है तो कौनसा है ? वास्तविक ज्ञान उसके माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। वहां ज्ञान का निमित्त मिलेगा। अक्षर वर्णमाला आदि ज्ञान के नेर्मित्त हैं। वास्तविक ज्ञान आत्मा में हैं।

यह थम्भा है। ज्ञान करने के लिये 'थम्भा' शब्द का अर्थ सोचा जाय तो उससे मस्तिष्क में थम्भा व्यक्त होगा। दृष्टा मकान को देखता है तो मकान को अन्दर में व्यक्त कर लेता है। मूल में तो ज्ञान शक्ति उसके पास है। पर दुनियाँ के जितने पदार्थ हैं उनके साथ रहने से या उन्हीं को सब कुछ मानने से आत्मा वास्तविक ज्ञान की तरफ नहीं पहुँच सकता। अपने स्वरूप से विमुख रहता है।

अखबार पढ़ते–पढ़ते संसार का ज्ञान बाह्य दृष्टि से कर लेगा पर ईश्वर कहां है, इसका ज्ञान कैसे कर पायेगा ? आत्मिक ज्ञान से वह शून्य रहेगा। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के साथ मोहनीय कर्म का भी क्षयोपशम जब होता है तब इस प्रकार का ज्ञान पैदा होता है। पर केवल ज्ञान को ढकने वाली कर्म रूप चट्टानें इतने ज्ञान मात्र से आगे पीछे नहीं होती।

कई विद्यार्थी बहुत मेहनत करते हैं फिर भी उन्हें ज्ञान प्राप्त

नहीं होता। वे हैरान हो जाते हैं। एक को ज्ञान नहीं हुआ और दूसरे विद्यार्थी को क्यों हो गया ? विद्यार्थी की बात छोड़िये। एक महात्मा साधना करने की दृष्टि से बैठे। गुरुदेव ने एक शास्त्रीय गाथा का पाठ दिया। वे मुनि उच्चारण करते हैं। बार-बार देखते है। जोर-जोर से रटते हैं। और अपना अधिकांश समय उसी गाथा को याद करने में लगाते हैं पर उनको गाथा याद नहीं होती। साथी संत हंसते हैं-इनको एक श्लोक, एक गाथा याद नहीं हुई। इस प्रकार दूसरे साथी संतों से हीनता के वचन सुनकर वह खेद का अनुभव करता है। दूसरा कहता है-भाई, सोचते नहीं हो इनके ज्ञानावरणीय कर्म की बहुत बड़ी चट्टान आड़ी आई हुई है। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण गाथा याद नहीं हो रही हैं पर इनमें साहस कितना है। पूरी शक्ति इस पर लगा रहे हैं। व्यर्थ किसी से बात नहीं करते। कितना इनका पुरुषार्थ है। इस प्रकार के वचनों से उसको थोड़ी प्रसन्नता होती है। कभी दुःख कभी प्रफुल्लता आती है पर अन्दर की चट्टाने टूटी नहीं। आप चट्टानों का मतलब पत्थर की चट्टानों से नहीं समझ लें, यहां ज्ञानावरणीय कर्म की चट्टानें हैं। मुनि ने सोचा-क्या करें ?

उस मुनिराज ने गुरुदेव से जाकर कहा-गुरुदेव, अनेक साथी संत मेरी निन्दा करते हैं तो दुःख होता है, कोई प्रशंसा करते हैं तो प्रफुल्लता होती है, पर गाथा याद नहीं होती।

गुरुदेव ने सोचा-यह विनीत है, पुरूषार्थी है। लगन वाला है पर पूर्व जन्म के कर्मो के कारण इसकी ज्ञानशक्ति पर आवरण है जिससे इसे याद नहीं होता। गुरु महाराज ने कहा-घबराओ मत। इस गाथा को याद करने के साथ साथ एक विधि और अपना लो। शिष्य ने कहा-फरमाइये क्या विधि है ?

गुरु ने बताया-"मा रूस मा तुस"।

गुरुदेव ! यह याद नहीं होता है। इसका अर्थ क्या है।'

गुरु ने कहा-इसका अर्थ है कि जब तुम याद करते हो और तुम्हारे साथी तुम्हारी हंसी उड़ाते हैं उस समय मन में ग्लानि भावना मत लाओ। यह "मा रूस" का अर्थ है। मा तुस का मतलब है कि तुम्हारी कोई तारीफ करे तो उसमें प्रफुल्लित मत होना। यदि शब्द

याद हो जाय तो अच्छा। शब्द याद न रहे तो उसका अर्थ जीवन मे याद रखना।

शिष्य–तथास्तु। मैं ऐसा ही करूंगा और भरसक कोशिश द्वारा इसे याद कर लूंगा। उसने गाथा छोड़ी और यह शब्द रटने लगा। उसका उच्चारण वह शुद्ध नहीं कर पाया अतः 'मा रूस मानूस' के स्थान पर 'मासतुस' कहने लगा। साधु हंसने लगे, कितना ठोठ है ! दो शब्द भी याद नहीं कर पा रहा है। उसने सोचा–अब गुरुदेव के बताये शब्द के अर्थ को सामने रखना है। शब्द के कलेवर मे नहीं रहना है। वह उस स्थिति में खेद नहीं करता है। वह शब्द के अर्थ के रस को अंणु–अणु मे रमाता हुआ याद करने लगा। बारह वर्ष तक पुरुषार्थ करने पर उसे केवलज्ञान हो गया। सभी ज्ञानावरणीय कर्म खत्म हो गये। ऐसी शक्ति उसी आत्मा में थी। हर मनुष्य में ऐसी शक्ति विद्यमान है। आप अपने ज्ञान को उपस्थित कीजिये। आप अपने अन्दर रहने वाली ईश्वरीय शक्ति को प्रकट कर सकते हैं। वह शक्ति मां–बाप में किसी रूप से होती है तो बच्चों मे भी उसके संस्कार आते हैं। ऐसे संस्कार गर्भावस्था से भी बनने प्रारम्भ हो जाते हैं। जो माताएँ ज्ञान के आवरण दूर करने की विधि याद रखती हैं वे अपनी सन्तान को आगे बढ़ने के संस्कार दे सकती है।

बन्धुओं ! कथाभाग की दृष्टि से इस रूपक की और झलक सामने आ रही है।

विधियुक्त प्रयास करते रहने से जीवन में इसका नक्शा यत्किंचित् मात्रा मे लाया जा सकता है। महारानी पुष्पदन्ती सोच रही है कि मेरे गर्भ में कोई विशिष्ट आत्मा आया है जिसने श्रेष्ठ स्वप्न से मुझे संकेत दिया है। मैं उस पुण्यवान आत्मा की पवित्रता के लिये अपने जीवन पर नियंत्रण रखूं। उसने सोच लिया–मेरी जीभ अनेक तरह के चरपरे, तले पदार्थ, चूर्ण चटनी खाने के लिये लालायित रहती है तो मुझे रसना के आधीन होकर मसालेदार पदार्थ ग्रहण नहीं करने चाहिये। यदि मैं मसालेदार चीजें खाती रही तो मेरे शरीर मे तामसिका वृत्ति का प्रादुर्भाव होगा। और उसका प्रभाव आने वाली महान् आत्मा पर पड़ सकता है। वह आत्मा पूर्व जन्म की पुण्यवानी

लेकर आ रहा है तो मैं उसके प्रति न्याय करूं और सात्विक भोजन करूं। मैं सादा सात्विक भोजन करूंगी तो उसका रस बच्चे के जीवन–निर्माण में विशेष सहायक होगा। बालक का जीवन भी सात्त्विक बनेगा।

यह विज्ञान उस माता में था इसलिये उसने मन को वश में किया। शास्त्र के अन्दर भी वर्णन है कि गर्भ की अनुकम्पा के लिये माताओं ने मनोज्ञ आहार का भी त्याग किया अर्थात् महारानी पुष्पदन्ती ने शास्त्र की पद्धति को खयाल में रखकर गर्भ के हित–संरक्षण के लिये खाने की स्थिति का ध्यान रखा। अधिक मीठा, भारी या अधिक विकारयुक्त मनोज्ञ पदार्थ का भी त्याग कर दिया। इसके साथ ही साथ सोचा–मैं इस समय गर्भवती हूँ। शृंगार सम्बन्धी वस्त्र शरीर पर धारण करूंगी तो उसका भी असर सन्तान पर हुए बिना रहेगा नहीं।

आप सोचेगें–वस्त्र तो शरीर पर धारण किये जाते हैं। भोजन की बात तो फिर भी समझ में आती है पर फैशनेबल वस्त्र का क्यों त्याग किया ? आपको इसके लिए बारीकी से अध्ययन करना होगा। जो वस्त्र धारण करता है वह कोई बिना इरादे के धारण नहीं करता। फैशनेबल वस्त्र प्रायः विकारी भावना के कारण धारण किये जाते है। वह सुन्दरता का प्रदर्शन करने के लिए भी ऐसे वस्त्रों का प्रयोग कर सकता है। यह अन्दर की शक्ति को ढंकने वाला है। ऐसे वस्त्रों से समझना चाहिये कि अन्तर में मोह की भावना चल रही है। ऐसा व्यक्ति रंग–बिरंगी पोषाकों को सजाता है, अकड़कर चलता है, पर सादी पोशाक वाला प्रायः सादी रीति से रहता है। जरा फैशनेबल वस्त्र धारण कर लिये तो फिर उसके विचार अधिकांश में उसी भावना में घुलते रहते है। वह न ज्ञान सम्पादन कर पाता है और न उसमें सात्त्विकता रह पाती है। ऐसे वस्त्र अन्दर की तामसिक वृत्ति को बढ़ाने वाले बन सकते हैं। इसलिये महारानी ने सोचा–मुझे विकारी भावना बढ़ाने वाले वस्त्र नहीं पहनने हैं। मैं सोलह शृंगार सजा अच्छे वस्त्र पहनूं तो भावना का असर पेट में बनने वाले रस के साथ रहेगा और उसका प्रभाव गर्भ के बच्चे पर होगा। वह रस–हरणी नाड़ी के माध्यम से गर्भ में पहुँचता है।

उसने सादी पोषाक धारण कर ली। क्या पता ये बातें आपको जँचेगी या नहीं ? इन माताओं को आज प्राय अपने जीवन का भान नहीं है। मेरी माताओ ! महारानी की बातों पर थोड़ा आप भी ध्यान दीजिये। और तो दूर रहा पर कम से कम धर्मस्थान पर तो फैशनेबल कपड़े पहनने की भावना नहीं रक्खें। यह विज्ञान माताओं के पास किस तरह आयेगा यह आयेगा, वह आप सोचें ?, बहनें सोचें मैं तो सिर्फ संकेत दे रहा हूं।

उस महारानी ने फैशनेबल कपड़ों का त्याग किया। आज की बहनें कम से कम इतना तो करें कि हम अधिक हिंसाकारी वस्त्रों का त्याग करेगी। रेशम के वस्त्रों का और जिनमें गायों की चर्बी लगती हो उन वस्त्रों का त्याग करना चाहिये। मेरा काम तो सिर्फ संकेत देना है। त्याग करना या नहीं करना इस पर आप स्वयं विचार कीजिये।

तो मैं कह रहा था कि महारानी ने सोचा–जब मैं फैशनवल वस्त्र भी छोड़ती हूँ तो जेवर पहन कर किसको वताऊं ? कभी–कभी जेवरों के पीछे भी मन में तूफान सा खड़ा हो जाता है। अच्छे अच्छे जेवर मन को इतने लुभाने वाले होते हैं कि मनुष्य का दिल वहां से हटता नहीं। वृद्धावस्था आ जाय, गर्दन हिलने लगे, मुंह से लार टपकती हो, घर से निकले तो पैर कम्पन करे, हाथ में डंडा लेकर चले, फिर भी सोना मिल जाय तो अपने शरीर पर लाद लेने की हवस बनी रहती है। यद्यपि अव जमाने में कुछ परिवर्तन आया है पर प्राचीन काल में तो इसके लिये वड़ा मोह था। आज भी वह मोह छूटा नहीं है। स्वर्ण नियंत्रण के वावजूद भी थोड़ा वहुत प्रदर्शन तो होता ही है। पर उस महारानी की क्या इच्छा हो रही थी ? उसके पास किसी वात की कमी नहीं थी। वह सोच रही है–इस प्रकार के जेवर भी मुझे नहीं पहनने चाहिये। वह सादगी के साथ शान्त वृत्ति से चल रही है।

महात्मा जंगल में उस महारानी के विपय में वर्णन कर रहे हैं। नल आदि परिपद् में उपस्थित श्रोता महात्मा के वताये वृतान्त को तल्लीनता से सुन रहे हैं। वे आगे वता रहे हैं कि महारनी पुष्पदन्ती ने सोचा–मेरे मन में शुभ भावना चलती रहे। कोई एक शुभ भावना लगातार चौवीस घण्टे तक नहीं चल पाती। कोई एक ही भावना

अन्तर्मुहूर्त तक रह सकती है। उसके बाद परिवर्तन आये बिना नहीं रहता। उसने सोचा–शुभभावना के लिये भी मुझे प्रोग्राम बना लेना चाहिये। उसने दान, शील, तप और भाव ये चार बातें सामने रखीं। पहले दान की शुभ भावना करना। संसार में आकर मैंने बहुत कुछ बटोरा है, दुनियां की सम्पत्ति संग्रह की है तो अब मुझे इसके सदुपयोग का भी ध्यान रखना है। मैं हर क्षण दान देने की भावना रखूं। सुपात्र दान का प्रसंग आये और कल्पतरु के तुल्य मुनिराज का संयोग मिले तो उनको दान देना मानो सारे विश्व के प्राणियों की कल्याणमय सुख शान्ति का अनुमोदन करना है। एक व्यक्ति सारे संसार के प्रति करुणा भावना लेकर चलता है और किसी भी प्राणी को हनन करना कराना व अनुमोदन भी करना नहीं चाहता तो उसकी सेवा करने वाला महान् फल की प्राप्ति करता है। क्योंकि ऐसे महापुरुष, जो पांच महाव्रतो का पालन करते है, पांच समिति तीन गुप्ति से युक्त है, कनक कान्ता के त्यागी हैं, रुपये–पैसे, सोना–चाँदी टिकट–लिफाफे आदि किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखने वाले हैं, आत्मा के चिन्तन मे निस्वार्थ भाव से रत रहते हैं, उन्हें किसी प्रकार का लोभ लालच नहीं, ईर्ष्या द्वेष नहीं, वे नंगे पांव चलते हैं, नंगे सिर रहते हैं, सिर्फ लज्जा ढ़कने के लिये सादे वस्त्र धारण करते हैं एवं पेट की पूर्ति के लिये भोजन किसी एक घर से नहीं अनेक घरों से थोडा थोडा इक्ट्ठा करके लाते हैं। उनको दान देने से उत्कृष्ट फल प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार महापुरुष नहीं मिलें तो छोटे भाई अर्थात् अणुव्रतधारी श्रावक को दान देना भी सुपात्रदान हैं। उनको भी दान देने का प्रसंग आता है। इसके बाद जघन्य सुपात्र जो सम्यग्दृष्टि है उसका भी ख्याल रखे। वह महारानी इस भावना से सोच रही थी कि उक्त तीन तरह के पात्र भी नही मिलें तो जो अनुकम्पा का पात्र मिले उसे भी मैं दान देने की भावना रखूं। जो अनाथ हैं, असहाय हैं, दुःखी हैं, वे भी अनुकम्पा के पात्र हैं। उनको दान देने से भी पुण्य का बन्ध होता है। पर ऐसे स्थल पर थोड़ा विवेक रखने की आवश्यकता है। उदारता के साथ ज्ञानशक्ति हो तो मनुष्य विवेकशक्ति से ख्याल

रखेगा कि जो हट्टा–कट्टा बाल–बच्चों को लेकर चल रहा है, संसार के सब विषयों का सेवन करता है, आमदनी का जरिया पूरा है किन्तु मांगने का काम करता है तो उसे देना उसके पुरुषार्थ को नाश करने वाला बनता है।

अमरीका के दो सेठ दुखी के दुःख को मिटाने वाले, दुःख का दमन करने वाले थे। एक दिन उनको एक व्यक्ति अनुकम्पा का पात्र नजर में आया जिसके पैर नहीं थे। एक सेठ ने हजार डालर अपनी जेब से निकाल कर दे दिये। दातार सेठ ने दूसरे सेठ पर दृष्टि डाली कि यह भी देता है या नहीं। पर दूसरे सेठ ने जेब मे से डालर निकालकर हाथ में नहीं दिया। वह एक तांगा किराये करके स्वयं उसके साथ जाने के लिये उद्यत हुआ। उसने उसे उठाया और तांगे में बैठाया, स्वंय भी बैठा। तांगे वाले से कहा–कारखाने में चलो जहां पर पैर लगाये जाते हैं। वहां जाकर कारीगरों से कहा–जितनी चाहिये उतनी कीमत ले लो पर इसके बढ़िया पैर बना दो जैसे किसी धनवान के बनाते हो। कारीगरों ने बढ़िया पैर बना दिये। सेठ ने कारीगरों को पैसे दे दिये। अब उसे उठाने की आवश्यकता नहीं रही। वह स्वयं लकड़ी हाथ में लेकर चलने लगा। सेठ ने उसको मिल मालिक से कह कर नौकर दिला दी। उसने एक पैसा भी हाथ में नहीं दिया। दोनों सेठ एक दिन फिर मिले। प्रसंगोपात्त दान देने वाला सेठ कहने लगा–आप मेरी बराबरी के सेठ ठहरे। मैंने उसे हजार डालर दिये। आपने क्यों नहीं दिये ? दूसरा सेठ बोला–मैंने हाथ में तो नहीं दिया लेकिन प्रकारान्तर से उसे दिया है हाथ में देने से क्या होता ? मैं क्या अन्य भी कोई चार व्यक्ति आपकी तरह उसे दे देते तो भी वह भीखमंगा का भीखमंगा ही रहता। पर मैंने उसे सदा के लिए स्वतंत्र स्वावलम्बी बना दिया है।

तो दान देते समय इस बात का विवेक रखना चाहिये। अपने विवेक–दीपक को बुझाकर दान देने में कभी–2 दान देने का सही नक्शा भुलाया जा सकता है।

दान के पश्चात् शील की भावना महारानी के मन में चल रही है। शील का अर्थ स्वभाव भी लिया जाता है और शील ब्रह्मचर्य को

भी कहा जाता है। इस प्रसंग को भी आपके सामने रखने की इच्छा है, पर व्याख्यान का समय आ गया। आज आपको महारानी की बातों और भावनाओं को ध्यान में लेने की आवश्यकता है। आगे जैसा प्रसंग बनेगा, सोचा जायेगा। यह ज्ञानशक्ति विकसित करने के लिए, उस पर आये हुए आवरणों को हटाने के लिए साधना अपनानी होगी। भगवान की स्तुति तो माध्यम बनेगी। आप विधियुक्त जीवन–निर्माण की कला सीखने की चेष्टा करेंगे तो आपमें भी वह नक्शा धीरे–धीरे आ जाएगा।

इसी शुभ भावना के साथ।

❀❀❀❀❀

3
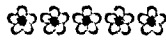
सम्यग्ज्ञान की आराधना

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव ।। 1।।
हेतु विवादे हो चित्त धरी जोईये, अति दुर्गम नयवाद,
आगमवादे हो गुरगम को नहीं, ए सवलो विषवाद ।। 2।।

ये अभिनन्दन भगवान् की प्रार्थना की कड़ियाँ हैं। इन कड़ियों से भगवान् के दर्शन की भावना व्यक्त की जा रही है। वह दर्शन कहां और कैसे होता है ? भगवान् के दर्शन के लिए नेत्र खोलने की आवश्यकता है। वे नेत्र कौनसे ? ये बाहर के नेत्र नहीं, अन्दर के हैं। नेत्रों का तात्पर्य अन्दर की ज्ञानशक्ति से है। वह ज्ञानशक्ति प्राणिमात्र में विद्यमान है। उस ज्ञानशक्ति को वह विकसित भी कर सकता है, दबा भी सकता है। सही ज्ञानशक्ति के बिना मनुष्य का जीवन एक प्रकार से अन्धा है। जिसमें सही ज्ञानशक्ति नहीं है वह इस लोक और परलोक के किसी तत्व को सही रूप में जान नहीं पाता। उसके लिए सर्वत्र अंधेरा है। ज्ञान वह प्रकाश है जो पदार्थ को प्रकाशित करता है। द्रव्य प्रकाश के पीछे मनुष्य की सब स्थितियां चलती हैं। दिन के समय सूरज का प्रकाश है और जब रात्रि में सूर्य का प्रकाश नहीं रहता है तब मानव कृत्रिम प्रकाश भी रखता है जिससे वह पदार्थ को देख सके। वह प्रकाश किससे प्रकाशित हो रहा है ? अर्थात् किससे देखा जा रहा है ? क्या सूर्य से सूर्य देखा जा रहा है ? विजली के बल्व से विजली का बल्व देखा जा रहा है ? सूर्य से सूर्य को देखा

नहीं जा सकता। एक सूर्य को देखने के लिए दूसरा सूर्य सामने रखा जाय तो क्या उसे देख सकेंगे ? आप सोचते होंगे महाराज, ऐसे भी देखा जाता है। पर मैं सोचता हूँ ऐसे नहीं देखा जाता। सूर्य को देखने के लिए हजार–हजार सूर्य काल्पनिक दृष्टि से ले लीजिये तो उससे हजार–हजार सूर्य का प्रकाश तो भले ही बढ़ जायगा पर सूर्य को देखने का जो वास्तविक साधन है वह उपलब्ध नहीं होगा।

आप जानते है वह साधन क्या है ? वह साधन नेत्रों का है। मनुष्य के नेत्र नहीं है तो दस लाख सूर्य तो क्या अनन्त सूर्य भी देखने का साधन नही बन सकेंगे। देखने की शक्ति सूर्य में नहीं, अनन्त सूर्यो में भी नहीं, लेकिन नेत्र में है। पर आप थोड़ा आगे बढ़िये ये चमड़ों के नेत्र भी द्रव्य नेत्र हैं, भाव नेत्र नहीं। भाव नेत्र यानि ज्ञानशक्ति इनमें नहीं है। ज्ञानशक्ति नहीं तो दो नेत्र ही नहीं, हजारों नेत्र क्यों न हों, उनसे वस्तु का स्वरूप नहीं देख पायेंगे। ये बाहर के नेत्र प्राप्त हैं लेकिन ज्ञानशक्ति कही दूसरी ओर है तो फिर चाहे कितना ही जाज्वल्यमान पदार्थ हैं उसे देखा नहीं जा सकता है। देखने की शक्ति ज्ञान मे है। वह शक्ति आत्मा की है। इन्सान के अन्दर वह शक्ति मौजूद है। ज्ञानशक्ति का प्रकाश पूर्ण होता है तो वह सब कुछ देख पाता है और ज्ञानशक्ति के अभाव में भौतिक तत्त्व का सर्वत्र प्रकाश है तो भी वह कुछ नही देख पाता।

ज्ञान की वास्तविक महत्ता मानव समझता नहीं और कभी–कभी उदास भी हो जाता है। पर वह उदास होने वाला व्यक्ति अपने नेत्रों को विकसित कर नही पाता। जीवन की सुख–सुविधा देखने के लिए भी ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। प्रत्येक कार्य मे ज्ञान की मात्रा हो तो उस कार्य मे सफलता है।

आप मोक्षमार्ग की तरफ बढ़ना चाहते हैं, प्रभु के दर्शन करने के लिए तरस रहे हैं, लेकिन आप ज्ञान प्राप्त नही करेंगे तो वह सब कुछ होने पर भी होने जाने वाला कुछ नही है। वीतराग प्रभु ने शास्त्र में संकेत दिया–पढमं नाणं तओ दया। पहले ज्ञान और पीछे दया। साधक के लिये ज्ञान की आवश्यकता सबसे पहले रखी गई है, क्योंकि :–

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं कही, किंवा नाही सेयपावगं।।

द० सू० अ० 4 गा० 1

अज्ञानी व्यक्ति क्या कर सकता है ? क्या वह श्रेय और पा को जान सकेगा ? नहीं। तो जिस अज्ञानी को अपना स्वयं का ज्ञा नहीं, अपने समान अन्य व्यक्तियों का ज्ञान नहीं, जिसको श्रेयोमार्ग क पता नहीं, श्रेयोमार्ग का ख्याल नहीं, जीवाजीव का भान नहीं, वह क्य कर सकेगा ? कुछ भी नहीं कर पायेगा। वहां पर कुछ करने के लि ज्ञान की ही मुख्यता है।

अब देखना यह है कि उस ज्ञान की शक्ति को कहां से प्राप्त किया जा सकता है ? वह ज्ञान की शक्ति आकाश से नहीं आयेगी, पाताल से भी नहीं निकलेगी। वह शक्ति किसी दूसरे से प्रस्फुटित नहीं होगी, वह शक्ति तो स्वयं से ही जागृत होगी। फिर भी स्वल्प मात्रा में रहने पर वह स्वयं अपने आप में तृप्त नहीं हो पायेगा। ज्ञानशक्ति को स्वयं से व्यक्त करना है। दूसरों का सहारा लिया जा सकता है, पर वह भी अल्पकालिक, सदा के लिए नहीं। जो सदा के लिए सहारे के भरोसे रहता है वह कभी पूरी ज्ञानज्योति को प्राप्त नहीं कर पाता। तीर्थंकर और भगवान् के बाद उपदेश देने वाले मुनिवर्ग साधक के साथ कुछ हद तक चलते हैं न कि अन्त तक।

जब तक साधक स्वयं अपने पैरों पर खड़ा न हो जाय तब तक दूसरे भी मदद करते रहते है। दूसरे मदद किस लिए करते हैं ? उसे पैरों पर खड़ा करने के लिए। बच्चा अभी पैरों पर खड़ा नहीं हो रहा है, लड़खड़ाता है, उठने की चेष्टा करता है और गिर जाता है। उस समय बच्चे के संरक्षक उस बच्चे को गिरते देखकर मददगार बनते हैं। उसकी अंगुली पकड़कर चलाते हैं। किन्तु वे कब तक सहायता देते हैं ? जब तक कि बच्चा पैरों से सबल बनकर चलने नहीं लग जाता। बच्चा जब स्वयं खड़ा होने लगता है फिर क्या आप हाथ पकड़कर चलाते हैं ? नहीं।

एक विद्यार्थी शाला में बैठा है। अध्यापक अध्ययन कराता है। प्रथम कक्षा में ज्यादा जोर लगाना पड़ता है। फिर आगे जैसे जैसे

कक्षाएं बढ़ती हैं अध्यापक का सहारा कम होता हैं। विद्यार्थी स्वयं अपनी शक्ति को विकसित करने में लग जाता है और ऊपर की स्थिति पर पहुंचने के बाद अध्यापक को अक्षर पढ़ाने की जरूरत नहीं रहती। वह आकर लेक्चर दे देगा और स्वयं अध्यापक भी अपनी तरक्की करना चाहेगा। एम० ए० पास अध्यापक भी अपने आपके अनुसंधान से भी आगे बढ़ता है और पी–एच० डी० करने वाले लाइब्रेरियों की सहायता लेते हैं और अपने अन्दर के अनुभव के आधार पर डाक्ट्रेट के लिए पुस्तक लिखते हैं। इन क्षेत्रों में भी ज्ञान का जो अर्जन करता है उसे अन्य का सहारा अमुक क्षेत्र तक ही काम आता है।

लेकिन यदि विद्यार्थी बीस वर्ष या सारी जिन्दगी भर अध्यापक के भरोसे ही रह कर एक कदम भी स्वयं आगे नहीं रखे तो वह अपना ज्ञान बढा नहीं पाता है। उस विद्यार्थी की क्या दशा होगी ? वह एक तरह से ठोठीराम कहा जा सकता है।

मै यहां प्रभु के दर्शन करने के सम्बन्ध में संकेत दे रहा हूं कि प्रभुदर्शन के लिए ज्ञानशक्ति सम्पादित करना है तो संतों की मदद ली जा सकती है, शास्त्रों की भी सहायता ली जा सकती है। लेकिन आप मदद पर ही निर्भर नहीं रहकर स्वयं की चेतना को जागृत करेंगे तो ज्ञानशक्ति का सम्पादन कर पाएँगे। और केवल मदद के ऊपर ही आधारित रह गए तो क्या दशा बनेगी, यह आप स्वयं सोच लीजिये। मै अपने मुंह से क्यों सर्टिफिकेट दूं ?

आप अन्तर्मुख होकर स्वयं देखिये, शक्ति आप में है। वह कही बाहर नही हैं जिसे अपनी अनन्त शक्ति का उद्बोध हो गया वह अनन्त ज्ञानशक्ति को अपने ही अन्तःकरण मे प्रकट कर सकता हैं। हां, उसको प्रकट करने मे बाधाएं भी आती है। उनका मै कल कुछ जिक्र कर गया। वे पहाड़ियां है घाती कर्म। उनका पूरा वर्णन कल नही कर पाया, उसे थोड़ा आज स्पष्ट कर दूं।

ज्ञानावरणीय कर्म घाती कर्म मे आया। वह किसने उपार्जन किया ? इसे पैदा किसने किया ? कर्म की संज्ञा इसे किसने दी ? क्या कहीं बाहर से उधार लिया गया ? यह बाहर से नही आया,

चैतन्य ने स्वयं पैदा किया। और चैतन्य के साथ कर्मवर्गणा के पुद्‌गल संयुक्त हुए तो उनकी कर्मसंज्ञा बनी। ज्ञानावरणीय कर्म को उपार्जन करने वाला आत्मा ही है, उसे तोड़ने वाला भी यहीं आत्मा है। कर्म उपार्जन करने में ज्यादा कष्ट नहीं होता है। पर तोड़ने में कुछ कठिनाई आ सकती है। ज्ञान पर द्वेष करने वाला व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्म का उपार्जन कर रहा है। वह सोचता है–यह ज्ञान क्या है ? कुछ नहीं। जिसको ज्ञान के प्रति रूचि नहीं, द्वेष है, ज्ञान के साधनों के प्रति द्वेष है तो वह ज्ञानावरणीय कर्म का उपार्जन कर लेता हैं भद्रिक भाई बहन इस बात को पूरा समझते नहीं। कभी–कभी ज्ञान सम्पादन कर रहा है तो उसके बीच में जाकर अन्तराय डालते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान में तो अन्तराय डालते हैं सो डालते हैं पर बाहरी ज्ञान में भी कभी–कभी बाधक बन जाते हैं। बच्चा पढ़ने बैठा है और माता को कोई छोटा काम हुआ, जिसे दूसरा भी कर सकता है, वह स्वयं भी कर सकती है या जो अन्य समय भी किया जा सकता है। वह भद्रिक माता अज्ञानता के वश उस काम के लिए अन्तराय दे देती है। बच्चा पुस्तक लेकर बैठ गया तो कई माताएं ऐसी भी होती हैं कि पुस्तक भी छिपा देती है और उससे अपना काम सम्पादित करवाती है। ऐसा करके वह स्वयं अपने ज्ञान पर पर्दा डालने का कार्य करती हैं। मगर उनको इस प्रकार की बातों का पता ही नहीं है। वह दीर्घकाल से इसी अज्ञानता से परिपूर्ण हो कर चल रही हैं और इसलिए ही वह ज्ञान को ढंकने वाला कर्म उपार्जन करती हैं। ज्ञान के साधन को, ज्ञान देने की शक्ति को या ज्ञान देने वाले को छिपाना आदि कारणों से भी उस व्यक्ति के ज्ञान पर कर्म का आवरण लगता है। ईर्षा आदि से ज्ञान को छिपाने की भावना है तो स्वयं की जो कुछ उपलब्धि है उसे भी गुमा बैठता है। इत्यादि कारणों से ज्ञानवरण का जब तीव्र बंध होता है तब उसका उदय आने पर प्राणी प्रबल पुरुषार्थ करके भी सफल नहीं होता।

स्वर्गीय आचार्य श्री जी महाराज साहब इस विषय में एक रूपक फरमाया करते थे। एक हजामत करने वाला नाई बाल साफ करने के लिए जाता था। वह अपने शस्त्रों की पेटी को हाथ में नहीं

राजा कहने लगा–भगवन् ! ऐसी सिद्धि आपको कहां से प्राप्त हुई ? अब बाबाजी सोचने लगे कि राजा को क्या जवाब दूं ? यथार्थ बात कहूँगा कि यह विद्या तो मैंनें नाई से सीखी है तो मेरी कीमत नहीं रहेगी। इनको तो कुछ और ही बताना चाहिये ! उसने नाई का नाम छिपाकर कहा–राजन् ! मैं हिमालय की तलहटी में गया। वहां बड़े–बड़े योगी जन योगसाधना कर रहे थे। मैंने भी योगसाधना की। योगी मेरी साधना से प्रसन्न हुए और मैंने यह विद्या प्राप्त की।

ज्यों ही वह विद्यादाता का नाम छिपाकर बनावटी बात रखता है, ऊपर से डंड कमंडल नीचे आकर गिर पड़ते हैं। राजा ने कहा–सच्ची बात बताइये ? आखिर उसे सच कहना पड़ा कि मैंने यह विद्या नाई से सीखी है। उसके नाम को मैंने छिपाकर बात कही इसलिए मेरी यह ऋद्धि अब नहीं रही। उस पर आवरण आ गया है। यह तो एक रूपक है। तत्त्वार्थसूत्र में शास्त्रकारों ने संकेत दिया :–

तत्व दोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासा
दानोपघाता ज्ञानदर्शनवरणयोः ;। 2।।

तत्वार्थ सूत्र अ० 6

ज्ञान पर द्वेष करना एवं ज्ञानी के नाम को छिपाना भी ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध का कारण है और इससे ज्ञानशक्ति का नाश होता है। वह मानो अपनी ज्ञानशक्ति को पहाड़ के नीचे दवाने का काम करता है। इसी तरह से मात्सर्य है। जिसमें ज्ञान की शक्ति है, जो योग्य पात्र है वह सामने आया। गुरु सोचता है–योग्य पात्र सामने आया है इसे यदि ज्ञान दूंगा तो यह मेरे से आगे वढ़ जायेगा, अतएव इसे ज्ञान नहीं देना चाहिए। इत्यादि प्रकार की भावना जिसमें है, वह भी ज्ञानावरणीय कर्म का उपार्जन करता है। अपनी ज्ञानशक्ति को खोता है, उसमें बाधक वनता है। कोई किसी के पास धार्मिक ज्ञान सीखने जाता है और उसे कोई रोकता है तो वह भी जवर्दस्त कर्मबन्धन का कारण है।

इसके साथ ही साथ असादना वताई गई। ज्ञान की शक्ति है और कोई व्यक्ति पूछता है कि आपके अन्दर वहुत ज्ञान है उसमें से

मुझे कुछ दीजिये। वह इन्कार कर देता है कि मेरे पास ज्ञान है ही नहीं। अथवा ज्ञान के साधन होते हुए भी इन्कार कर देता है तो वह भी ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान की घात करना भी कर्मबन्ध का कारण होता है। ज्ञान को अज्ञान आदि रूप में बताता है तो वह अपने ज्ञान को मारने की चेष्टा करता है। वह भी जबरदस्त कर्म बांधकर ज्ञान दीपक को नष्ट करता है यानि तिरोहित करता है, उसे ओझल करता है।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के कारण समान हैं। ज्ञान–विषयक प्रदोष, मात्सर्य आदि ज्ञानावरण के बंध के कारण हैं तो दर्शन विषयक यही कारण दर्शनावरण के उपार्जन में निमित्त बन जाते हैं। ये डूंगर आत्मा की शक्ति पर आकर आड़े पड़ जाते हैं। फिर जीव प्रयास करता है तो भी जल्दी ज्ञान नहीं आता। कई भाई कहते हैं–महाराज, मैं रटता तो बहुत हूँ पर याद नहीं होता। पर उसे यह सोचना चाहिये कि मैंने ज्ञानावरणीय कर्म कितने बांधे हैं ?

ज्ञानपंचमी के रोज मेरे भाई 'नमो नाणस्स' की माला फेरते है, उपवास भी करते है पर ज्ञान के आवरण के कारण क्या हैं उनको वे छोड़ते हैं या नहीं ? अगर ज्ञान के आवरण को हटाने की ओर प्रयास नहीं करते और केवल मुंह से 'नमो नाणस्स' की माला फेरकर उच्चारण मात्र ही कर लेते है तो ज्ञानपंचमी की आराधना सही रूप से नही होती। ज्ञान के आवरण हटे बिना सही देखने की शक्ति नहीं आती। ज्ञान के आगे घाती डूंगर पड़े हुए है। कवि कहता है :–

घाती डूंगर आड़ा अति घणा, तुज दरिशण जगनाथ,
ढिठाई करी मारग संचरूं, सेंगु कोई न साथ।। 4 अभि०।।

ज्ञानावरणीय कर्म कैसे बंधते हैं और इन घाती डूंगरों के नीचे दबी पड़ी आत्मा को कैसे ऊपर लाया जाता है, इसका विज्ञान आवश्यक है। यह विज्ञान जिसके मस्तिष्क में आ गया उसकी ज्ञान–शक्ति विकसित होते देर नही लगती है।

यह कला जिनमे होती हैं वे हर क्षेत्र मे अपनी कला का प्रयोग करने की कोशिश करते है। जरा विचार करने की बात हैं। महारानी पुष्पदन्ती अपने गर्भ की सुरक्षा के लिए क्या चिन्तन कर रही

है ? उसके जीवन में ज्ञान का आलोक कुछ मात्रा में विद्यमान था। अपनी ज्ञानशक्ति से वह गर्भ का अवलोकन कर रही थी, चिन्तन कर रही थी कि मेरी कुक्षि में वह पुण्यात्मा आया तो यह आगे चलकर अपने जीवन को मंगलमय बनावे और अपने परिवार के चार चांद लगावे। मैं भी भावी जीवन को उज्ज्वल बना सकूं। इस भावना से वह अपने गर्भ का संगोपन कर रही है। माता दान, शील, तप और भावना के साथ अपने जीवन को आगे बढ़ाने के लिए संकल्प लेकर चल रही है।

दान की व्याख्या कल की थी, अब आगे शील के संबंध में कुछ विचार करें। शील का अर्थ स्वभाव भी है और ब्रह्मचर्य भी है। ब्रह्मचर्य की तो वह प्रतिज्ञा कर लेती है कि जब तक गर्भ की अवस्था है तब तक मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करूंगी। शक्ति से वह स्वभाव की स्थिति ले रही है कि मेरी भावना इस प्रकार रहे जिससे इस महापुरुष के अन्दर ज्ञान की शक्ति बढ़े। मैं सबके साथ भलाई का वर्ताव करूं।

शील के साथ वह तप की भावना भी रखती थी। वह तप को भी यथास्थान लेकर चलने वाली थी। वह विज्ञानवान थी। वह बारह प्रकार के तपों को समझती थी। भगवान महावीर ने बारह प्रकार के तप बतलाये जिनमें बाह्य और अन्तरग तप दोनों हैं। बाह्य तप में अनशन, ऊनोदरी आदि हैं। इस प्रकार अनशन उन तपों के बारह भेदों में से एक है। आजकल मेरे भाई बहन प्रायः अनशन को ही तप समझते हैं और अधिकांश उसी के पीछे अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। लेकिन इसके साथ आगे के तपों को भी ध्यान में रखना चाहिये पर इसमें भी विवेक की आवश्यकता हैं। कभी–कभी विवेक नहीं रहता तो अनशन तप के माध्यम से अकाज होने की स्थिति भी बन सकती है। उपवास किस हालत में किया जाय ? भाइयों के लिए शक्ति के अनुसार हर समय छूट हैं पर बहनों के लिए द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को ध्यान में रखते हुए उपवास बताया है। जो माता गर्भवती हो उसे उपवास करने की आवश्यकता नहीं। यदि वह गर्भावस्था में उपवास करती है तो मूलव्रत में अतिचार लगता है। कई बहनों को ख्याल नहीं

कि मूलव्रत क्या है ? मूल होता है तो फिर उत्तरव्रतरूप शाखाऐं व टहनियें होती हैं। श्रावक के लिए पांच अणुव्रत मूल हैं। उनमें प्रथम प्राणातिपातविरमणं व्रत है जिसमें स्थूल प्राणातिपात का त्याग किया जाता है। निरपराधी निरपेक्ष, त्रस प्राणी को संकल्प करके इरादतन नहीं मारने की प्रतिज्ञा होती है। उसके अतिचार बताये गये हैं जो अभी अमर मुनिजी ने आपको बताये।

यदि गर्भवती माता अनशन तपस्या करती है तो गर्भ में रहे बच्चे के लिए भात-प्राणीविच्छेद नाम का अतिचार लगाती है। ऐसी तपस्या करते समय कभी-कभी बच्चे की घात हो गई, ऐसा भी सुनने मे आया। इसलिए बहनों को गर्भ की स्थिति में लम्बी तपश्चर्या तो दूर, पर उपवास का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। सन्त-सती के सामने पच्चखने के लिए खड़ी हो तो उनको भी ख्याल रखना चाहिये कि गर्भवती स्त्री को उपवास नहीं पच्चखावे। कदाचित् उनको ख्याल रहे या नहीं, पर बहनों को ध्यान रखना चाहिये। अगर बहनें नही सोचती है तो मूल को ठेस पहुंचाने का अतिचार करती है। बच्चे की घात हो जाती है तो अनाचार हो जाता है। क्योंकि गर्भ में रहने वाला बच्चा अपराधी नहीं है। अगर वहाँ माता विवेक न रखकर तपस्या करती है और कदाचित् गर्भ की घात हो जाती है तो घोर हिंसा होती है। वह जैन धर्म के स्वरूप को नहीं समझती। वह अपने जीवन को गलत रास्ते ले जाती है। कभी-कभी सात कर्म और कभी-कभी आठ कर्म का गाढ़ा बन्ध कर लेती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय, और अन्तराय ये कर्म तो अच्छी तरह बन्ध जाते है। वह बहन आन्तरिक शक्ति से भगवान् के दर्शन करना चाहेगी तो अन्दर की शक्ति जल्दी खुलेगी नही परन् मन्दप्रायः हो सकती हैं। इसलिए तप के स्वरूप को समझ कर उसके विज्ञान के साथ तप करने की आवश्यकता हैं।

महारानी सोच रही थी मुझे ऐसा तप नहीं करना है पर तप छोड़ना भी नहीं है। एक अनशन को छोड़कर मैं ऊनोदरी तप कर सकती हूं। भिक्षाचरी का प्रसंग नहीं है तो इन्द्रियप्रति संलीनता तप तो कर सकती हूं। मैं अपनी इन्द्रियों को गोपन करके स्वयं यह

भी तप है।

महारानी की भावना भी उत्तम चल रही थी, तीन मनोरथ का चिन्तन कर रही थी। श्रावक श्राविका को हर रोज तीन मनोरथों का चिन्तन करना चाहिये। आपको शान्ति के क्षणों में बैठकर प्रातःकाल तीन मनोरथों का चिन्तन करना चाहिये। इससे ज्ञानावरणीय कर्म टूटने का प्रसंग भी बनता है।

महारानी इस प्रकार तीन मनोरथ का चिन्तन करती एवं शुभ ध्यान भी करती थी। गर्भ का सुन्दरतम निर्माण करने के लिए सोचती रहती थी कि मेरी सन्तान निर्मल बने, मैंने अमुक आश्रव का सेवन तो किया और आश्रव की स्थिति में जीवन चल रहा है। अब मेरे गर्भ में जो सन्तान आई है वह भावों में ऐसी उज्ज्वल बने कि जिससे मेरा भी नाम रोशन हो। वह भी दुनियां में युग–युगान्तर तक अपनी कीर्ति कायम रख सके। मोह की दशा को शान्त करूं। अगर मैं इस दशा में अधिक मोह करूंगी तो मेरी सन्तान भी मोही बन जायेगी। वह विचार करती–मैं अपने आचार–विचार को सम बना लूं। मेरे अन्दर की वृत्ति सम रहे और मैं सभी के साथ समता का बर्ताव करूं। परिवार, पड़ौसियों के साथ भाईचारे का व्यवहार रक्खूं। नगर में रहने वाले लोगों को समान्ता की दृष्टि से देखूं। इस प्रकार वह विश्व के प्राणियों के साथ समता भाव रखते हुए गर्भ की रक्षा करना आवश्यक समझती है। इससे उसे स्वयं को शान्ति मिल रही है और गर्भ का भी ज्ञान के साथ पोषण होता है। वह ज्ञानशक्ति के साथ अन्दर के आलोक को प्रकाशित कर रही थी।

महारानी कभी दर्पण के सामने जाकर खड़ी हो जाती तो उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखकर दर्पण के समान बनने की भावना जागृत करती। सोचती–जैसे इस दर्पण में स्वच्छता है, इसमें जैसे प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे ही मेरे जीवन में स्वच्छता रहे और मेरे अन्दर के चैतन्य में भी प्रतिबिम्ब पड़े। मेरी संतान भी दर्पण के समान उज्ज्वल बने।

कभी महारानी घूमते–घूमते आयुधशाला के नजदीक चली जाती। वहां तलवार को म्यान से निकाल कर देखती कि यह तलवार

चर्चा कम करती थी।

आजकल की माताओं का नक्शा क्या है ? आज क्या इस प्रकार का बर्ताव होता है ? इस प्रकार के सब लक्षणों का पालन किया जाता है ? अरे और जगह तो नहीं होता है तो न सही, पर यहां धर्मस्थान में पालन होता है ? किससे पूछूं ? चुप्पी साथ लेना ही ठीक है। धर्मस्थान में भाई बहिन पहुँचते हैं, दूर–दूर से आते हैं। यहां पहुँचने पर भी सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की चर्चाएं कितनी मात्रा में होती हैं ? ज्ञान जगाने का कितना प्रयास होता है ? जहां तक मेरे कान पर शब्द आते हैं, मैं कुछ ही शब्द सुनता हूँ, उन शब्दों के माध्यम से थोड़ा उनके जीवन का अंकन कर लेता हूं। इधर–उधर की बातें करने, रागद्वेष की वृद्धि करने, कलुषितता पैदा करने आदि की बातें क्या हैं ? क्या ये ज्ञानज्योति को जगाने वाली बातें हैं ? धर्मस्थान में जहां तक व्याख्यान चले मौन रखना चाहिये, चुपचाप रहना चाहिये। व्याख्यान के पश्चात् भी पौषध सामायिक हो तो उनके अन्दर सुदेव, सुगुरु, सुधर्म एवं तत्त्व की चर्चा होनी चाहिये, शान्ति के साथ ज्ञान को समझने की भावना रखनी चाहिये। इस प्रकार का दृढ़ संकल्प होना चाहिये। यदि यहां भी एक दूसरे की निन्दा की गई, आपस में द्वेष पैदा करने वाली बातें की गई तो वह तो अपने जीवन को अज्ञान–अंधकार में ढकेलना है।

महारानी अपने जीवन को अज्ञान–अन्धकार में ढकेलने वाली नहीं थी। वह स्वयं के जीवन को उज्ज्वल बनाते हुए गर्भ की सुरक्षा के लिए तत्पर थी। उसका नक्शा मुनिराज जंगल में नल राजकुमार आदि श्रोताओं को सुना रहे थे।

गर्भ का निर्वाह महारानी नियमों के साथ कर रही थी। महात्मा, नल को सम्बोधन करके कह रहे हैं–राजकुमार, तू यह जानने को उत्सुक है कि दमयन्ती में वह चमत्कार कहां से आया, इसकी जड़ जान लें। दमयन्ती की माता पुष्पदन्ती ने उसे इस प्रकार के सुन्दरतम संस्कार दिये। वह तुम्हारी अनेक जन्मों की संगिनी है।

लेकिन राजकुमार नल की जिज्ञासा अभी तक पूरी शान्त नहीं हुई। नल सोच रहा था कि माता ने वे संस्कार दिये तो क्या

अणु से विराट की ओर

अभिनन्दन जिनदर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जई पूछिये, सहु थापे अहमेव ।। 1।।
घाती डूंगर आड़ा अति घणा, तुज दरिशन जगनाथ,
ढिठाई करी मारग संचरूं, सेंगु कोई न साथ ।। 2।।

ये अभिनन्दन परमात्मा की स्तुति की कड़िया हैं। परमात्मा की स्तुति परमात्मा के लिए नहीं है। ईश्वर के गुणगान ईश्वर के लिए नहीं हो सकते। स्तुति गाने वाले या सुनने वालों के लिए है। स्तुति भगवान् की होती है पर काम स्वयं का होता है। स्वयं व्यक्ति जिस पिण्ड के अन्दर रह रहा है उस पिण्ड का काम नहीं बनता है तो कुछ भी नहीं बनता। पिण्ड सिर्फ जड़ तत्त्व का ही नहीं है। ऐसे पिण्डसंज्ञा जड़ तत्त्व को दी जा सकती है पर अभी जिस पिण्ड शब्द के लिए मैं कुछ कह रहा हूँ उससे चैतन्य युक्त पिण्ड का संकेत लें। इस शरीर रूपी पिण्ड के अन्दर कौनसा तत्त्व है कि जिसके लिए वह अपनी आवाज को बुलन्द करे ? कौनसी कमी है जिसके लिए हाथ फैलाकर ग्रहण करने की सोचे ? कौनसा ज्ञान उसके अन्दर नहीं है ? कौनसी ताकत उसमें नहीं ? इस जीवन के अन्दर सब कुछ है। कहीं बाहर आने की आवश्यकता नहीं। लेकिन सब कुछ होते हुए भी आत्मा कुछ भी नहीं देख पा रही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसके पास अपूर्व खजाना है, अलभ्य लब्धि है और वह अपने आपको दरिद्र समझे, भिक्षुक समझे, कमजोर समझे, बुजदिल समझे, उस व्यक्ति को

आप क्या कहेंगे ? क्या ये सारी बातें उसके अन्दर नहीं पाई जाती हैं ?

यह समझना बहुत बड़ा भ्रम है कि मैं कमजोर हूँ, कायर हूँ, बुजदिल हूँ, मैं अपने आप में कुछ भी नहीं। मैं दरिद्र, निर्धन हूँ। इस प्रकार की कल्पना भी एक तरह से गरीब बना रही है। इन्सान को ऐसी कल्पना को क्षण भर भी अपने चित्त में स्थान नहीं देना चाहिये। जो अपने स्वरूप को ठीक तरह से समझ लेता है, जीवन को पुष्ट बनाने की कोशिश करता है, शक्ति सम्पादन करने का प्रयास करता है वह इस छोटे से पिण्ड में रहते हुए भी महान् बन जाता है, विराट बन जाता है, व्यापक और विशाल शक्ति के पुंज के रूप में परिणत हो जाता है। इसके लिए भगवान् हमारे समक्ष आदर्श हैं। पर मनुष्य हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाय तो भगवान् भी उसे चला नहीं सकते। मनुष्य के अन्दर की शक्ति को वे खींच कर प्रकट नहीं कर सकते। ऐसे तो भगवान अनन्त शक्ति से सम्पन्न है पर वे ऐसा करते नहीं, कर सकते भी नहीं, क्योंकि वे सिद्ध बुद्ध निरंजन बन चुके है। अतः तटस्थ दृष्टा के रूप में रहते हैं। मनुष्य को उनकी शक्ति देखकर स्वयं की शक्ति को पहिचानना है। उनके आदर्श को देखकर स्वयं को जागृत करना है। वह योग्यता स्वयं मे है।

कवि ने अपनी प्रार्थना की कडियों में कुछ संकेत दिया :—

> घाती डूंगर आडा अति घणा,
> तुज दरिशण जगनाथ,
> ढिठाई करी मारग संचरूं
> सेगू कोई न साथ।

भगवन् ! मैं आपके उस आदर्श जीवन के दर्शन करने के लिए तत्पर हो रहा हूं पर बीच मे घाती डूंगर आडे आ गये। उनकी परवाह नहीं करके ढीठ बनकर आगे बढ़ने की चेष्टा करता हूं फिर भी साथ किसी का नहीं। अर्थात् मैं बिना साथ के चल रहा हूं। दूसरों का साथ लेना, उनके सहारे से चलना, यह स्थिति भी इस समय मेरे पास नहीं है। मैं स्वयं अपने साहस के बल पर चलने की कोशिश कर रहा हूं।

[illegible] की कडियां किसी रूप में हो, लेकिन [illegible] कुछ

कड़ियों के भाव को-मर्म को ग्रहण करना चाहिये और अपनी ईश्वरीय शक्ति को जगाने का प्रयास करना चाहिये। इस छोटे से जीवन में आप अपने को क्षुद्र मानना छोड़ दें और महान विशालतम जीवन को अन्दर में जागृत करें तो फिर किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। आप स्वयं अपनी शक्ति से चल पड़ेंगे। आप स्वयं से जागृत होंगे। आप स्वयं अपने आपसे परिपूर्ण बनेंगे। इस परिपूर्णता की विधि ही सीखने की आवश्यकता है। वह परिपूर्णता क्यों नहीं प्राप्त हो रही है ? उसमें बाधक कौन से तत्त्व हैं ? वे डूंगर कौन से हैं ?

वे बाहर के डूंगर नहीं। बाहर की पहाड़ियों से यहां सम्बन्ध नहीं है। अन्दर की पहाड़ियां ही आत्मा की परिपूर्ण शक्ति को आच्छादित कर रही हैं।

दाणे लामे य भोगे य, उपभोगे वीरिए तहा
पंचविहमन्तरायं, समासेण वियाहियं।

—उ.सू.अ. 33 गा. 15

प्रभु महावीर ने इस मानव को सम्बोधन करके निर्देश दिया कि मानव ! तू इस चोले के अन्दर दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की ताकत से परिपूर्ण है। तू दान की शक्ति से परिपूर्ण दातार है। सारे विश्व का तू अपनी शक्ति को विकसित करके एक महान् दातार के रूप में निमित्त बन सकता है। सारे संसार को तू लाभान्वित कर सकता है। सारे विश्व के भोग और उपभोग के साधनों को उपलब्ध कर सकता है और अनन्त वीर्य की शक्ति का सम्पादन कर सकता है। किन्तु इन पांचों शक्तियों के ऊपर बहुत सघन आवरण है इसलिए तुझे उनका वास्तविक लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है।

लाभ के लिए हर व्यक्ति लालायित रहता है। कौन नहीं चाहता कि मुझे संसार की सब सुख-सामग्री मिले ? मैं किसी चीज से वंचित नहीं रहूँ। किसी सुखसाधन-सामग्री से अलग न रहूँ। यह भावना रहते हुए भी प्रत्येक मनुष्य भावना के अनुरूप लाभ को प्राप्त क्यों नहीं कर रहा है ? वह लाभ प्राप्त क्यों नहीं हो रहा है जब कि उसके पिण्ड में अनन्त लाभ की शक्ति विद्यमान है ? वह शक्ति जीवन में व्यक्त क्यों नहीं हो रही है ? केवल शब्द से कह देने मात्र से

उपलब्धि नहीं होती। मनुष्य रात–दिन चिन्ता मे रहता है कि मुझे अमुक चीज चाहिये। उसके लिए वह कोशिश भी करता है। पर क्या उसे शताश मे भी प्राप्त कर सकता है ? कभी–कभी कोशिश करते हुए समीप मे आये हुये फल से अचानक हतोत्साहित होना पडता है। मानव बोलता है–मेरे मुंह से नवाला चला गया। अरे किसने खीच लिया ? क्या किसी दूसरे व्यक्ति ने खीच लिया ? एक दृष्टि से देखा जाय तो दूसरा निमित्त मात्र होता है पर स्वयं की तथा प्रकार की कृति का फल अन्दर मे उदय आ गया जिससे हाथ आया हुआ लाभ चला गया। तुमने अपने अन्दर मे इस प्रकार की चट्टान तैयार कर रखी है कि जिससे वह लाभ तुम्हारे नजदीक आकर भी चला गया। यह स्थिति मनुष्य ने स्वय तैयार की है, किसी दूसरे ने नही। अन्य किसी व्यक्ति ने लाभान्तराय पैदा नही किया बल्कि तुमने स्वयं ने ही पैदा किया है।

इन्सान सहजभाव से चलता है। सोचता है–पडौसी के यहां अमुक तरह का लाभ हो रहा है, यह लाभ उसे न हो तो अच्छा। पडौसी के लाभ को रोकने का प्रयत्न करता है। मन में समझता है– लाभ हो गया तो वह मुझ से ऊंचा हो जायगा। वह अन्तराय स्वरूप बनता है, बाधक बनता है। परिणाम यह आता है कि स्वयं अपने आपके लिए अन्तराय कर्म का उपार्जन कर लेता है। उस पडौसी के अन्तराय कर्म का उदय होगा तो उसका लाभ रुकेगा पर स्वयं का लाभ तो रुकता ही है, स्वयं की स्थिति खण्डित हो जायगी। उसने स्वयं ने अपने लाभ पर तो आवरण दे ही दिया। जो दूसरों के लिए बाधक बनता चला जाता है उसके लिए दुनिया साधक बने यह कभी सम्भव नहीं। यदि तू अपने लाभ की अभिलाषा रखता है तो दूसरों के लिए अन्तराय का कारण न बन।

बाधक प्रायः अपना ही बनेगा, दूसरों के लिए बाधा डालने में कामयाबी नहीं होगी। दूसरे के लिए बाधक बनने की मलीन भावना के पीछे इन्सान ने अपनी शक्ति को निर्बलता में परिणत किया है। उससे लाभ की आशा कम ही रहती है।

आज का मानव समुदाय प्रायः इसी भावना के साथ दौड़ रहा है। स्वयं को लाभान्वित करना, दूसरों को धोखा देना, दूसरों के लिए कुछ नहीं छोड़ना, स्वयं के लिए भोगोपभोग के पदार्थ जुटाना आदि–आदि भावना उसके जीवन को कुण्ठित करने वाली बनती है। जब ऐसी भावना इन्सान की बन रही है तो वह व्यापक विशाल कैसे बने ? सोचिये कि एक पुरुष स्वयं एक घेरे में जाकर पत्थर पकड़ने की चेष्टा करे, पत्थर से चिपक कर बैठ जाय तो पत्थर की चट्टान उसके शरीर की गति को भी रोक देती है। वैसे ही मानव की आन्तरिक मनोवृत्तियां ममत्व रूप से बाहरी पदार्थों के साथ चिपकती हैं तो उसकी आन्तरिक शक्ति उस ममत्व के साथ कुण्ठित होकर अवरुद्ध हो जाती है अर्थात् वह आन्तरिक ममत्व रूप चट्टान से आगे नहीं बढ़ सकता। यदि पत्थर हटाकर खुले आकाश में गमन करता है तो वह व्यक्ति अपनी स्थिति को आगे बढ़ाता हुआ लाभ प्राप्त कर सकता है।

आप आज वैज्ञानिक युग में कुछ उपलब्धियां देख रहे हैं। वैज्ञानिक लोग पुरुषार्थबल से आकाश में उड़ने की चेष्टा कर रहे हैं पर किससे ? हवाई जहाज से। हवाई जहाज कहां उड़ेगा ? चट्टानों के बीच में या बिना चट्टान के आकाश में ? चट्टानों रहित खुले आकाश में अबाधित गति से हवाई जहाज उड़ जाता है लेकिन चट्टानों के बीच में हवाई जहाज नहीं जा सकता। यदि चला भी गया तो वह चट्टानों से टकरा कर खत्म हो सकता है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी ऊपर उठने का विकास हुआ तो आकाश में हुआ, चट्टानों के बीच में नहीं।

तो, मानव अपनी अन्दर की शक्ति को विकसित करने के लिए आकाश की तरह से व्यापक बने। उसे आकाश के समान बनना चाहिये। आप सोचते होंगे–महाराज चट्टाने कहां से ला रहे हैं ? मैं उन बाहरी चट्टानों के लिए नहीं कह रहा हूँ। अन्दर की चट्टानों का

जिक्र कर रहा हूं। आपके अन्दर यों स्थूल रूप में तो चट्टानें नही दिखती पर आपका अन्तर चट्टानों से चिपका हुआ है। बैठे यहां हो, किसी खम्भे को पकड कर नहीं बैठे हो। चट्टान तो दूर रही बाहर कंकर भी हाथ में नही है। पर आपका मन, दिल–दिमाग उस चट्टान के वजन से खाली है या दबा हुआ है ? बैठे तो यहां हो मेरे सामने। पर आपका दिल खुल नही रहा है। वह बन्द क्यों है ? कुन्द क्यो हो रहा है ? वह कारण क्या है ? आपका दिल उस ममत्व में रहा हुआ है, संपत्ति में रमा हुआ है। इस प्रकार सत्ता, सम्पत्ति, अधिकार का नक्शा आपके मन मस्तिष्क में घूम रहा है। क्या इस सम्पत्ति इस धन, इन बडी–बडी हवेलियों आदि के प्रति जो ममत्व है वह चट्टानें है या आकाश है ? कदाचित कोई मनुष्य, चट्टान को जाने दीजिए, किसी पत्थर को शरीर पर बांध कर ऊपर से कूदे तो वह कहां गिरेगा ? नीचे या ऊपर ? आप जानते हैं वह नीचे गिरेगा।

कभी–कभी सैनिक छाता लेकर हवाई जहाज से नीचे उतरते है। छाता खुल जाने से वह एकदम नीचे नही गिरता। स्थूल शरीर से भी नीचे जाता है तो सूक्ष्म शरीर, जो कर्म रूप है, और वह आत्मा के साथ जब तक जकड़ा हुआ है, उसमें अति क्रूर भावना का दौर–दौरा है तो वह भी पतन की ओर जायगा। मनुष्य के मन मे मूर्छा रूप परिग्रह का भाव मन–मस्तिष्क को भारी बनाकर चल रहा है जिसे एक क्षण के लिए भी सोचने की फुर्सत नही मिल पा रही है। कभी–कभी संत लोग कहते है–भाई, धार्मिक कृत्य के लिए समय निकालो तो मेरे भाई कहते है क्या करे महाराज, समय नही मिलता। अरे भाई, समय कहां जा रहा है ? चौबीस घण्टे मे से अधिकांश समय किधर जा रहा है ? आप किधर जा रहे है ? यह स्वयं को सोचने का विषय है।

बाधक प्रायः अपना ही बनेगा, दूसरों के लिए बाधा डालने में कामयाबी नहीं होगी। दूसरे के लिए बाधक बनने की मलीन भावना के पीछे इन्सान ने अपनी शक्ति को निर्बलता में परिणत किया है। उससे लाभ की आशा कम ही रहती है।

आज का मानव समुदाय प्रायः इसी भावना के साथ दौड़ रहा है। स्वयं को लाभान्वित करना, दूसरों को धोखा देना, दूसरों के लिए कुछ नहीं छोड़ना, स्वयं के लिए भोगोपभोग के पदार्थ जुटाना आदि–आदि भावना उसके जीवन को कुण्ठित करने वाली बनती है। जब ऐसी भावना इन्सान की बन रही है तो वह व्यापक विशाल कैसे बने ? सोचिये कि एक पुरुष स्वयं एक घेरे में जाकर पत्थर पकड़ने की चेष्टा करे, पत्थर से चिपक कर बैठ जाय तो पत्थर की चट्टान उसके शरीर की गति को भी रोक देती है। वैसे ही मानव की आन्तरिक मनोवृत्तियां ममत्व रूप से बाहरी पदार्थों के साथ चिपकती हैं तो उसकी आन्तरिक शक्ति उस ममत्व के साथ कुण्ठित होकर अवरुद्ध हो जाती है अर्थात् वह आन्तरिक ममत्व रूप चट्टान से आगे नहीं बढ़ सकता। यदि पत्थर हटाकर खुले आकाश में गमन करता है तो वह व्यक्ति अपनी स्थिति को आगे बढ़ाता हुआ लाभ प्राप्त कर सकता है।

आप आज वैज्ञानिक युग में कुछ उपलब्धियां देख रहे हैं। वैज्ञानिक लोग पुरुषार्थबल से आकाश में उड़ने की चेष्टा कर रहे हैं पर किससे ? हवाई जहाज से। हवाई जहाज कहां उड़ेगा ? चट्टानों के बीच में या बिना चट्टान के आकाश में ? चट्टानों रहित खुले आकाश में अबाधित गति से हवाई जहाज उड़ जाता है लेकिन चट्टानों के बीच में हवाई जहाज नहीं जा सकता। यदि चला भी गया तो वह चट्टानों से टकरा कर खत्म हो सकता है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी ऊपर उठने का विकास हुआ तो आकाश में हुआ, चट्टानों के बीच में नहीं।

तो, मानव अपनी अन्दर की शक्ति को विकसित करने के लिए आकाश की तरह से व्यापक बने। उसे आकाश के समान बनना चाहिये। आप सोचते होंगे–महाराज चट्टाने कहां से ला रहे हैं ? मैं उन बाहरी चट्टानों के लिए नहीं कह रहा हूँ। अन्दर की चट्टानों का

जिक्र कर रहा हूँ। आपके अन्दर यों स्थूल रूप में तो चट्टानें नहीं दिखती पर आपका अन्तर चट्टानों से चिपका हुआ है। बैठे यहां हो, किसी खम्भे को पकड़ कर नहीं बैठे हो। चट्टान तो दूर रही बाहर कंकर भी हाथ में नहीं है। पर आपका मन, दिल–दिमाग उस चट्टान के वजन से खाली है या दबा हुआ है ? बैठे तो यहां हो मेरे सामने। पर आपका दिल खुल नहीं रहा है। वह बन्द क्यों है ? कुन्द क्यों हो रहा है ? वह कारण क्या है ? आपका दिल उस ममत्व में रहा हुआ है, संपत्ति में रमा हुआ है। इस प्रकार सत्ता, सम्पत्ति, अधिकार का नक्शा आपके मन मस्तिष्क में घूम रहा है। क्या इस सम्पत्ति इस धन, इन बड़ी–बड़ी हवेलियों आदि के प्रति जो ममत्त्व है वह चट्टानें हैं या आकाश है ? कदाचित कोई मनुष्य, चट्टान को जाने दीजिए, किसी पत्थर को शरीर पर बांध कर ऊपर से कूदे तो वह कहां गिरेगा ? नीचे या ऊपर ? आप जानते हैं वह नीचे गिरेगा।

कभी–कभी सैनिक छाता लेकर हवाई जहाज से नीचे उतरते हैं। छाता खुल जाने से वह एकदम नीचे नहीं गिरता। स्थूल शरीर से भी नीचे जाता है तो सूक्ष्म शरीर, जो कर्म रूप है, और वह आत्मा के साथ जब तक जकड़ा हुआ है, उसमें अति क्रूर भावना का दौर–दौरा है तो वह भी पतन की ओर जायगा। मनुष्य के मन में मूर्छा रूप परिग्रह का भाव मन–मस्तिष्क को भारी बनाकर चल रहा है जिसे एक क्षण के लिए भी सोचने की फुर्सत नहीं मिल पा रही है। कभी–कभी संत लोग कहते हैं–भाई, धार्मिक कृत्य के लिए समय निकालों तो मेरे भाई कहते हैं क्या करें महाराज, समय नहीं मिलता। अरे भाई, समय कहां जा रहा है ? चौबीस घण्टे में से अधिकांश समय किधर जा रहा है ? आप किधर जा रहे हैं ? यह स्वयं को सोचने का विषय है। यों एक दृष्टि से आप जा कहीं नहीं रहे हैं, वहीं के वहीं हैं। घाणी के बैल की तरह उसी स्थान पर खड़े हैं उस घेरे से दो कदम भी बाहर नहीं आए हैं। आप जानते हैं, तेल की घाणी चलती है। आजकल तो प्रायः यत्रों से भी तेल निकलता है। तेली बैलों को घाणी में जोतता है। उसकी आंख पर पट्टी बांध देता है, फिर वह बैल चलता है। बैल चलता है, खूब चलता है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक चलता

है। वह बैल मन में सोचता है आज तो बहुत चला ! वह थकान अनुभव करता है। लेकिन संध्या के समय आंख से पट्टी खुलती है तो अपने आपको कहां पाता है ? जहां था वहीं। उस घेरे से कुछ भी आगे नहीं बढ़ा, उसी घेरे में दिन भर की यात्रा हुई वह अपनी थकावट पर क्या महसूस करता होगा ? वह तो पशु है। मैं उसका क्या जिक्र करूं। मैं तो मानव की स्थिति का जिक्र कर रहा हूँ।

आज का मानव क्या आगे बढ़ रहा है या बैल की तरह ही चक्कर काट रहा है ? मानव कुछ आगे बढ़ा या नहीं ? क्या वह उसी स्थान में घूम रहा है ? क्या आंख पर पट्टी बांध रखी है ? मानव बाहर से कोई पट्टी बांधे हुए नहीं है। पर उसने अपनी आत्म–शक्ति कुण्ठित कर ली है, इसलिए वह उसी घेरे में चल रहा है। जब पट्टी खुलेगी तो महसूस करेगा कि अरे, मैंने इतना श्रम किया वह बेकार गया। मानव दिन–रात शरीर की अपेक्षा मानसिक स्थिति से ज्यादा घूम रहा है। क्या उसे घाणी के बैल की उपमा दूं ? नहीं। तो किसकी उपमा दूं ?

भारत के एक नेता ने तो भारतीय पशु की स्थिति को निश्चित करने के लिए एक वक्तव्य में कह दिया कि भारत का राष्ट्रीय पशु मनुष्य घोषित कर दिया जाना चाहिये। बन्धुओं ! जरा ख्याल करने की बात है। आपको ये बातें कुछ अटपटी लगेगी पर अटपटी के साथ चटपटी लग जाएँ तो आपकी गति प्रगति बन जाय और मुक्ति की स्थिति सामने आ जाय।

आज इस परिग्रह के घेरे से मनुष्य क्या बन रहा है ? सोते, उठते, बैठते, खाते, पीते वह भार नहीं उतारता। क्या नींद के समय वह भार उतरता है ? थोड़ा वजन नीचे रखकर सोते हो ? सोते समय में भी मस्तिष्क भारी रहता है या हल्का ? बहुत से भाइयों को वैसे ही स्वप्न आते रहते हैं और रात्रि गुजर जाती है। निद्रा से शरीर की थकान जो दूर होनी चाहिये थी वह भी दूर नहीं होती। क्या यह जीवन इसी तरह से बर्बाद करने के लिए है ? यह कीमती जीवन चट्टानों के साथ टकराते रहने के लिए नहीं। इसे तो चट्टान रहित [illegible] पर लगाने की आवश्यकता है। आकाश अपने में एक दृष्टि से

सब तत्त्वों को रखते हुए भी सदा उन तत्त्वों से रहित है। आकाश को बाह्य तत्त्व पकड़ नहीं पाते। अवकाश दे देगा मगर उसमें किसी चीज के प्रति लगाव नहीं है। इसलिए वह मुक्त कहलाता है, समता का आदर्श उपस्थित करता है। आकाश की स्थिति मानव मात्र के लिए अनुकरणीय है।

आकाश में कौन रह सकता है ? गरीब रहे या धनवान रहे, या मूर्ख रहे, पशु रहे या मनुष्य रहे ? सबको आकाश अपने में स्थान देता हुआ भी स्वयं अलिप्त रहता है। जो दशा आकाश की है वही दशा चेतना की भी बन जाय तो चेतना अपने आपमें समभावी बनती है और परिग्रह की चट्टानों को छोड़ती जाती है। और आवश्यक संयम साधना की सामग्री के पास रहती हुई स्वतंत्र रह सकती है। इस प्रकार की दशा कब बन सकती है ? ऐसी भावना कब आती है ? जब मनुष्य वास्तविक रूप से अपने निज के जीवन को देखता है। तब वह सोचता है–परिग्रह जड़ है, मैं चैतन्यमय हूँ। यदि मैंने जड़ के साथ मूर्छित भाव रखा तो मैं भी जड़ के साथ अपने जीवन को संकुचित करता हुआ पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति के रूप में चला जाऊँगा।

शास्त्र की दृष्टि से स्वर्ग के देव भी, पानी वनस्पति, में जाकर पैदा हो जाते हैं। कहां तो देव का विराट जीवन ! उसकी भौतिक ऋद्धि की तुलना में मानव के पास क्या है ? कुछ भी नहीं। अगर कोई मानव अरबपति है तो भी देव की ऋद्धि के मुकाबले में कुछ भी नहीं। देव की इतनी विराट भोगोपभोग की सामग्री है। देव भी उस सामग्री से चिपक जाते हैं और उनकी कामना रहती है–यह ऋद्धि नहीं छूटे तो अच्छा है। यदि गाढ़ मूर्छाभाव बन जाता है तो वह आत्मा एकेन्द्रिय आदि जाति में पैदा हो सकती है।

आप सुनते हैं कोई भाई परिवार के मुखिया कहलाते थे। लेकिन उनके लिए लोग ऐसा बोला करते हैं, कि वे मर करके घर में सर्प हो गये। इस प्रकार का उनका कथन सम्भव बन सकता है, क्योंकि परिवार का मुखिया आखियर आयुष्य बंध के समय में मकानादि परिग्रह की मूर्छा के साथ सर्प आयुष्य के योग्य परिणाम वाला बन

जाता है तो मर कर उस घर में सर्प रूप में उत्पन्न हो सकता है व उसी हवेली के अन्दर सर्प बन कर चक्कर काटता है। जहां धन गड़ा है उस पर बैठ जाता है। कोई नजदीक जाता है तो फूंकार मारता है। वह सर्प घर वालों को सताता नहीं पर उस स्थान पर बैठा रहता है। ऐसा आपने सुना होगा। यह क्यों हुआ ? कहां तो मनुष्य का जीवन और कहां सर्प का जीवन ? जड़ पदार्थों के साथ असक्ति भावना रखकर मनुष्यतन छूटा और सर्प बनना पड़ा। इन्सान इस मूर्छा भाव को पकड़ना चाहता है तो पकड़ लेता और छोड़ना चाहता है तो छोड़ भी देता है। एक पुरुष अपने हाथ में एक थम्भा पकड़ कर जोर से चिल्लाता है कि–दौड़ो–दौड़ो, मुझे थम्भे ने पकड़ लिया है। समझदार पुरुष कहता है–जरा हाथों को ढीला करदे, थम्भा छूट जायेगा। वह कहे–मैं हाथ को ढीला न करूं और थम्भा छूट जाय तब कहां से थम्भा छूटेगा ? थम्भे ने उसको पकड़ा है या स्वयं उसने थम्भे को पकड़ा हैं ? आप स्वयं सोच सकते हैं।

ऐसे ही परिग्रह ने मनुष्य को नहीं, पर मनुष्य ने परिग्रह को पकड़ रखा है। सन्त कहते हैं–भाई, इस परिग्रह को छोड़ने में तत्पर हो जा। वह कहता है–क्या करूं महाराज, यह छूट नहीं पाता। जिन्दगी भर उसे छोड़ नहीं पाता और जिस समय परलोक जाने के लिए प्रस्थान करता है उस समय भी वह मन से तो छोड़ना नहीं चाहता। लेकिन विवशता पूर्वक छोड़कर जाना पड़ता है। आजकल मानव का मन–मस्तिष्क परिग्रह के साथ इस प्रकार चिपका हुआ है कि उसे भौतिक तत्त्वों के अतिरिक्त दूसरी चीज प्रायः समझ में नहीं आती है। ऐसा करके वह अपनी आध्यात्मिक शक्ति पर आवरण डाल रहा है। मैं क्या बातें कहूं ?

बड़े–बड़े छः खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती, जिनकी सार्वभौम सत्ता थी, वे भी अपनी उस परिग्रह की स्थिति के साथ नहीं चिपके। सनत्कुमार जैसे चक्रवर्ती परिग्रह को नाक के श्लेष्म की तरह त्याग कर अलग हो गये। भरत चक्रवर्ती आकाश की तरह निर्लिप्त रहे। एक समय परिवार व भौतिक सत्ता–संपत्ति का त्याग करके वे सदा के लिए निस्पृह–निष्काम बन गये।

पवित्र भावना के साथ क्यों न दिया गया हो, प्रश्नकर्त्ता अपने विचारों के अनुरूप ही ग्रहण करता है।

आकाश से वर्षा भूतल पर निर्मल जल–बिन्दुओं के रूप में गिरती है। खेत में उगा पौधा स्वभाव के अनुसार उसे परिणत करता है। अफीम का पौधा अपने रूप में और गन्ने का पौधा अपने रूप में ग्रहण कर लेता है।

स्वर्णकार ने अपनी प्रकृति के अनुरूप ही भगवान का उत्तर ग्रहण किया। वह सोचने लगा कि भगवान भी माया से निलिप्त नहीं हैं। इनका भी मोह छूटा हुआ नहीं है। वीतराग भी धनवानों का पक्ष लेते हैं और गरीबों को कुछ नहीं समझते। जब इनके यहां भी पक्षपात है तो यह समझना चाहिये कि पानी में आग लगी है।

भगवान की स्थिति को वह समझ नहीं पाया। वह अपने स्वभाव के अनुरूप ही सोच रहा था। वह यह नहीं सोच पाया कि भगवान् को भरत से क्या मतलब। उन्होंने अन्तर्ज्ञान में जैसा देखा होगा वैसा ही कहा होगा। ऐसा सोचने की उसमें क्षमता नहीं थी। इसके विपरीत वह तो सोच रहा था भगवान् ने पक्षपात किया। उन्होंने अपने बेटे को सर्टिफिकेट दे दिया और मैं स्वर्णकार हूँ इसलिए अनेक भव करने की बात कह दी। उसके मस्तिष्क में अनेक तरह की कल्पनाएं व्यक्त हो रही थीं। वह उदास भाव से चुपचाप बैठ जाता है। आगे प्रश्नोत्तर नहीं कर पाया।

उसकी गतिविधियों को भरत महाराज ने ताड़ लिया। भरत महाराज अपने स्थान पहुंचे और उस स्वर्णकार को बुलाया बुलाकर कहा–तुमने वीतराग प्रभु की बड़ी अवहेलना की है। तुमने प्रश्न पूछा, भगवान ने उत्तर दिया। उस उत्तर पर तुमने प्रसन्नता व्यक्त नहीं की। यह वीतराग प्रभु की आसातना है। मैं इसका दण्ड देने वाला हूँ। लेकिन यह निष्परिग्रही महात्मा का प्रसंग है इसलिए एक शर्त के साथ दण्ड देना चाहता हूं।

इतना कहकर उन्होंने एक तेल का लबालब भरा हुआ कटोरा मंगाया और उस स्वर्णकार को दिया। कहा–इस कटोरे को लेकर नगर के समस्त रास्तों पर घूम कर आना है। साथ में नंगी तलवार

देकर सिपाहियों को लगा दिया। कहा–देखो ये सिपाही इसी प्रतीक्षा में रहेंगे कि एक बूंद भी नीचे गिरी कि तुम्हारा सिर नीचे गिरा देगें। एक बूंद भी न गिरी तो तुम्हें क्षमा कर दिया जाएगा। यह बात उस स्वर्णकार के सामने महाराज भरत ने रखी। सिपाहियों को रवानगी के समय कह दिया कि बूंद तो क्या, पूरा कटोरा गिर जाय तक भी कुछ मत करना।

वह स्वर्णकार सोचने लगा–मेरे प्राण इस कटोरे में है। वह उसी भावना को लेकर चलने लगा। चक्रवर्ती महाराज ने आदेश दे दिया था कि जितने प्रदर्शन हैं उनको जगह–जगह बाजे गाजे के साथ चालू रखा जाय और खूब सजावट की जाय। वह भाई चलने लगा। उधर सिपाही कहते हैं–देखो, इधर क्या है ? उधर क्या है ? वे आवाज लगाते हैं पर उसके कान सुनने की तरफ नहीं जाते। बाहर के दृश्य भी सुन्दर हैं पर आंखें कटोरे से हट नहीं रही है। सुगन्धित पदार्थ चारों ओर हैं पर वह सुगन्ध भी नहीं ले पा रहा है। वह उसी कटोरे में एक ध्यान से तन्मय है। सारा शहर घूम कर पहुंचा और कटोरे को हाथ से अलग रखा तब शान्ति की सांस ली। वह सोचने लगा–अब मैं बच गया।

भरत महाराज ने पूछा–क्यों भाई ! कुछ बूंदे गिरी ? सिपाहियों ने कहा–नहीं महाराज, एक भी बूंद नहीं गिरी।

सोनी से पूछा–तुमने शहर में क्या–क्या देखा ? क्या–क्या सुना ?

स्वर्णकार कहता है–महाराज, मैंने कुछ नहीं देखा, कुछ नहीं सुना,सिर्फ तेल के कटोरे पर ही मेरा ध्यान रहा। पांचों इन्द्रियां और मन तेल के कटोरे के साथ चिपके हुए थे। भरत महाराज ने सिपाहियों से कहा–तुमने सावधानी नहीं दिखाई। सिपाही बोले–महाराज, हमने सारे रास्ते में कहा–इधर देखो, यहां नाच हो रहा है, यहां गाना हो रहा है, पर इसने उधर देखा तक नहीं।

भरत महाराज ने कहा–देखों भाई, सारे संसार के विषय संबंधी पदार्थ तुम्हारे सामने रहते हुए भी तुम्हारा ध्यान उनकी ओर नहीं, तेल के कटोरे में था, वैसे ही इस जीवन में तुम्हारी भावना

संसार के बीच रहती हुई भी इस शरीरादि के पिण्ड के साथ लगाव वाली है या इनसे ऊपर उठ कर निर्लिप्त है ? वह कुछ देर बोल नहीं सका। महाराज ने कहा–क्या सोचते हो ?

वह बोला–महाराज, मुझे क्षमा करिये। वैसे तो संग्रह की दृष्टि से मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है और न एक समय का पूरा भोजन ही है, फिर भी मैं यह सोचता हूँ कि दुनियां भर की सम्पत्ति सत्ता, मुझे मिल जाय और दुनियां भर का परिग्रह मेरे पास रहे। भरत चक्रवर्ती खत्म हो जाय तो अच्छा, मैं चक्रवर्ती बन जाऊं। इस प्रकार मेरी लालसा और तृष्णा की कोई सीमा नहीं है।

भरत महाराज ने कहा–भाई, तुम्हारी भावना इस परिग्रह के साथ चिपकी हुई है जिससे तुम्हारा जल्दी छुटकारा होने वाला नहीं है। मेरी दशा तुम्हारी दशा से विपरीत है। मैं सोचता हूँ–यह परिग्रह जिसको जितनी आवश्यकता है उसके लिए काम आवे। मैं इसका कम से कम उपयोग करूं। मेरी आत्मा आकाश की तरह परिग्रह रहित बनकर सिद्ध स्वरूप को कब प्राप्त करे ! यह मेरी भावना रहती है। मेरा जीवन व्यापक कैसे बने, इस परिग्रह से मुझे छुटकारा कैसे हो, यह भावना मेरे मन में चलती है। ऋषभदेव भगवान ने मेरे साथ किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया, उन्होंने अपने ज्ञान में जैसा देखा वैसा प्रकाशित कर दिया। तुम्हें जो सर्टिफिकेट मिला वह इसलिए मिला कि तुम्हारे बीच में परिग्रह की आसक्ति रूप चट्टानें आई हुई हैं, लगाव रहा हुआ है।

मैं कुछ भाव आपके सामने रख गया हूँ सो सिर्फ आपको समझाने के लिए। आप समझते होंगे, कल्पना भी करते होंगे पर कल्पना ऊपर की ऊपर चलती है या अन्दर में भी प्रवेश करती है ? महाराज के साथ बैठे हैं तब तक तो कुछ कल्पना का नक्शा होगा पर [illegible] ही यहां से उठे कि भावना तो इधर–उधर लुढ़क जाती है।

[illegible] के मानव समुदाय की दृष्टि से सोचा जाय तो [illegible] [illegible] के मन में सही स्थिति प्रवेश नहीं कर पाती।

[illegible] भाई कह सकते हैं–महाराज, आज के मनुष्य [illegible] [illegible]। उसका आप क्या उपदेश देंगे।

मैं सोचता हूँ—क्या उपदेश दूँ ? नन्दी सूत्र में उपदेश के योग्य पात्र बताया है। संकेत दिया है, कि एक काली मिट्टी के समान उपदेश ग्रहण करने वाला पात्र होता है। जैसे काली मिट्टी प्रायः सारे पानी को झेल लेती है वैसे ही ऐसी प्रकृति का मनुष्य उपदेश ग्रहण करने के अधिक योग्य होता है। एक चट्टान के समान होता है। एक मूंग शैलिया पत्थर के समान होता है जिसमें पानी की एक भी वूंद नहीं प्रवेश कर सकती है।

शास्त्रकारों ने रूपक दिया एक मुद्गशैल पत्थर पड़ा था। एक बार नारद बाबा ने उसे हँसते हुए देखा। सोचा—यह हँसता क्यों है ? अगर पानी बरसे तो गल कर चला जावे। वह हँसने लगा—महाराज, मुझ पर कोई असर होने वाला नहीं है। नारद ने उस वात को पकड़ लिया। पुष्करावर्त्त मेघ से नारद बाबा ने कहा—जोर से बरसो। वह बरसने लगा, बड़ी–बड़ी चट्टानें गल–गल कर बहने लगीं। सात दिन तक पानी बरसता रहा। सात दिन बाद नारदजी नजदीक जाकर देखते हैं कि वह मूंगशैलिया तो जैसा था वैसा ही पड़ा है। कहा—अरे भाई, इतना पानी पड़ा और तू गल नहीं सका।

वह हँस पड़ा। बोला—मुझे कोई जीत नहीं सकता, गला नहीं सकता, इतना पानी बरसा परन्तु मुझ पर पानी का क्या असर हुआ ?

यह तो रूपक है। मैं इस रूपक को आद्योपान्त विस्तार से नहीं रख रहा हूं। पर आपके समझने के लिए रूपक का कुछ भाव कह गया हूँ कि उस मूंगशैलिया पत्थर पर कोई असर नहीं हुआ। उसी तरह मूर्छारूप परिग्रह की स्थिति मूंगशैलिया पत्थर के समान बन गई है तो फिर उसके सामने कितनी ही उपदेश की झड़ी लगाई जाय तो भी कुछ असर होने वाला नहीं है। यह बात सब मनुष्यों के लिए लागू नहीं होती है। जैसे बड़ी–बड़ी चट्टानें पिघल गई वैसे बड़े–बड़े परिग्रह वाले भी ममत्व की स्थिति छोड़ने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

ये आपके सामने बैठे हुए सन्त महात्मा किस रूप में थे ? क्या इनके पास परिग्रह नहीं था ? इनके पास भी परिग्रह था, कुटुम्ब, परिवार, धन, दौलत, मकान आदि थे पर इन्होंने सब

नहीं समझा और ये उनसे हटकर निष्परिग्रही रूप में सन्त बन गये। अब ये परिग्रह से दूर रहकर साधना करते हैं। कहीं रहने को अच्छी जगह–आपका बंगला मिल जाय तो भी क्या और कहीं झौंपड़े मिलें तो भी क्या ? खाने को अच्छा मिले तो भी वहीं बात, रूखा, सूखा मिले तब भी वहीं बात। और नहीं भी मिला तो भी समभाव में रहने की स्थिति रहती है। हम जब छत्तीसगढ़ थे तब एक स्थान जंगल में रहने को मिला। वह स्थान उस जंगल में सड़क ठीक करने वाले भाइयों ने डामर की खाली कोठियों पर घास आदि डालकर झौंपड़ी के समान बना रक्खा था। उसमें रहने का प्रसंग भी आया। वहां से विहार करके होशंगाबाद पहुंचे। वहां पर मध्यप्रदेश के भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष श्रीमूलचन्दजी देशलहरा आ गये। उन्होंने कहा–महाराज, रात को कहां रहे ? हमने कहा–उस जंगल में रहे। वे बोले–महाराज, हम तो वहां दो मिनिट भी नहीं रह सकते। मैंने कहा–आप नेता लोग हैं, आपको बंगले, तकिए गादी से मोह है इसलिए वे चाहिये। हम तो साधु ठहरे। जो मिले उसी में आनन्द मान कर रहते हैं। सन्त परिग्रह से ऊपर उठकर जीवन चलाते हैं। इसलिए सब जगह समभावी बन जाते हैं। उनके पास गरीब आवे तो क्या और धनवान आये तो क्या, सभी के साथ समभाव का बर्ताव है। सन्त अपने अन्तराय कर्म तोड़ने के लिए तत्पर रहते हैं और आगम अनुसार सन्त जीवन की मर्यादाओं में रहते हुए संयम साधना की स्थिति में तल्लीन हो जाते हैं तो एक समय ऐसा भी आ सकता है कि दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि अन्तराय कर्म सम्बन्धी बन्धनों को तोड़कर अनन्त शक्ति सम्पन्न बन सकते हैं।

सत वर्ग को आप देख ही रहे हैं। इनका एक–एक का क्या परिचय दूं ?

आज इसी भावना में बढ़ने वाले भाई बहनों में किस प्रकार की भावना चल रही है ? युवकों में किस प्रकार की भावना काम कर रही है ? कालेजों की शिक्षा, उपन्यास, सिनेमाघर उनको कैसे आकर्षित कर रहे हैं ? और विराट व्यापक आत्मिक शक्तियों की सत्ता रखता हुंआ भी मनुष्य उनसे किस प्रकार चिपका हुआ है ? इस

स्थिति में भी जो व्यक्ति अपने अन्तराय कर्म के क्षयोपशम भाव के साथ चारित्र सम्बन्धी वीर्य शक्ति को प्राप्त कर आत्मा को विशाल व्यापक बनाने में अपरिग्रहव्रत का आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं क्या आपके मुंह से उनके लिए धन्यवाद का शब्द नहीं निकलेगा ?

यहां चातुर्मास का प्रसंग आया किस कारण से ? इन चांदमलजी कुदार की दो पुत्रियों, अमर मुनिजी की भाणजियों के दीक्षा के प्रसंग से। अमर मुनि स्वयं अपनी पत्नी के साथ दीक्षित हुए। उनकी पुत्री चन्दनबाला ने भी दीक्षा ली। इनके पिता 68 वर्ष के अन्दर उस चट्टान को तोड़कर दीक्षित बने ! ये वैराग्यवती बहनें अपनी तरुणाई के अन्दर चल रही है।। इसी तरुणाई की अवस्था मे अन्य कई बहनें चाहती हैं कि सारे संसार के परिग्रह को हम बटोर लें और हम बड़ी सेठानी बन जाएँ। पर इन बहिनों को देखिये कि ये उन भावनाओं से मुक्त होने के लिए तत्पर हो रही हैं। आज जो बड़े-बड़े वीर कहलाने वाले इस प्रकार ममत्व की स्थिति नहीं त्याग सकते, जिसे ये बालाएँ त्याग करने को उद्यत हो रही हैं।

यह कब होता है ? जब चेतना में विवेक की जागृति होती है तब यह चहल-पहल पैदा होती है। सन्तों की स्थिति देखिये। ये अपना कितना परिवार छोड़कर निकले। ये वकील साहब कहते हैं-महाराज, आपने हमारे दिल (संयतमुनि) को ले लिया। मैं सोचता हूँ-दिल ले लिया तो फिर यह शरीर कहां चिपक गया ?

अरे बन्धुओ, सोचो, विचार करो। यह पिण्ड छोटा सा पिण्ड नहीं। मैं क्या तो वकील साहब से कहूँ और क्या दूसरों से कहूँ ? भाई यहां बैठे है पर ध्यान कहां है ? आज रविवार का दिन है तो सोच लिया-चलो महाराज के यहां चल दें। फिर सारा समय तो वहीं लेन-देन में रहता है। कौन किस रास्ते में है, इसको आप स्वयं सोचिये। यह जीवन इस प्रकार जड़ तत्त्वों के साथ बर्बाद करने के लिए नहीं है। बुद्धिमत्ता तो इसमें है कि इस जीवन को व्यापक, विराट और विशाल बनावें।

मेरे भाई बोलते हैं-परिग्रहवाद ने विषमता पैदा कर दी। बड़ी बड़ी पार्टियों और उनके नेता भाषण करते हैं, आन्दोलन करते हैं, पर

मैं सोचता हूं–जो पार्टी या नेता वर्तमान की व्यवस्था लेकर चल रहे हैं उनके दिल दिमाग में परिग्रह का वह भूत सवार नहीं है ? आप जरा तटस्थ दृष्टि से सोचिये। मैं तो सोच पाया हूँ कि उनके दिल दिमाग परिग्रह से अत्यधिक चिपके हुए हैं, भले ही वह समानता का नारा लगाते हों। परिग्रह व्यक्ति के पास है तो भी है, पार्टी के पास है तो भी है, समाज के पास है तो भी है। उनका लगाव छूटा कहां ? बिना लगाव की कौनसी पार्टी है जो परिग्रह के लक्ष्य को छोड़कर चल रही है ?

यदि इन्सान अपना लक्ष्य अपरिग्रह भावना के साथ लगा कर चलता है तो फिर भी वह कुछ नक्शा बना, ऐसा कहा जा सकता है। पर यदि लक्ष्य सत्ता–सम्पत्ति का है तो वहां भी वहीं रोग का नक्शा रहा हुआ है भले ही वे 10 व्यक्ति हो या पचास व्यक्ति हों। वहां अपरिग्रहवाद की स्थिति पनप नहीं सकती। परिग्रह से मुक्त होने के लिए आत्मा के सही स्वरूप को समझ कर अपने जीवन को विराट व्यापक विशाल बनाना होगा। इस संसार के वैभव से, सत्ता, सम्पत्ति अधिकार से मूर्छा भाव हटाकर चलना होगा।

आज आपकी घड़ी कुछ आगे बढ़ गई। कोई बात नहीं। मैं चाहता तो था साढ़े दस पर समाप्त कर दूं फिर भी वह कुछ आगे बढ़ ही गई। आप भी कुछ आगे बढ़ने की चेष्टा करें। अब मैं लम्बी बात न कह कर आपको संकेत देना चाहूँगा कि आप इस छोटे से पिण्ड को महान्, विशाल, व्यापक और विराट बनावें। यह स्थिति कब बनेगी ? जब कि परिग्रह की बेड़ियां टूटेंगी।

इसी शुभ भावना के साथ

5

दर्शनमोह

अभिनन्दन जिनदर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव।। 1 ।।
घाती डूंगर आड़ा अति घणा, तुज दरिशन जगनाथ,
ढिठाई करी मारग संचरूं, सेंगु कोई न साथ।।। 2 ।।

ये अभिनन्दन भगवान की प्रार्थना की कड़ियां हैं। ये कुछ दिनों से आपके सामने आ रही हैं और उनमे भी घाती डूंगर की कड़ियां दो–तीन रोज से चल रही हैं। इनका चलना जितना आवश्यक नहीं है उतना अन्दर के जीवन को समझना आवश्यक है। कविता की कड़ियां तो शब्दरचना है। इस शब्दरचना से आत्मा के अन्दर कोई विशेष परिमार्जन नहीं हो सकता। आत्मा की शुद्धि के लिए यत्–किंचित् निमित्त बन सकती है लेकिन शुद्धीकरण तो अन्तर की स्थिति को समझने और तदनुरूप आचरण करने से ही होगा। क्योंकि आत्मा के साथ आठ कर्मो का उल्लेख शास्त्रीय दृष्टि से किया गया हैं। उन आठ कर्मो में जो कर्म ज्ञान की अनन्त शक्ति को अच्छादित करता है, ढांकता है, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहा गया है। आत्मा की समान्य ज्ञान दर्शन शक्ति को, जो ज्ञान की सहचर है, ढंकने की शक्ति जिन कर्मवर्गणाओं में है वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है जो साता और असाता रूप दशा का अनुभव कराने का माध्यम बनता है वह वेदनीय कर्म है। यह भी आत्मा की शक्ति पर एक दृष्टि से आवरण है। आगे नम्बर आया मोहनीय का। मोहनीय कर्म का तो कहना ही क्या ? सब

कर्मों की जड़ इसी से हरी–भरी रहती है, यह आत्मा के अपने निजरूप को भुलाता है और कर्त्तव्याकर्त्तव्य से मूढ़ करके चतुर्गति संसार में परिभ्रमण कराने का श्रेय कहो या कुश्रेय, इसी मोहराज को है। आयुष्य कर्म इस शरीर की दशा को टिकाये रखने वाला है। शरीर, इन्द्रिय, गति, जाति आदि स्थितियों का निर्माण जिससे होता है वह नाम कर्म है। लोक में प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल में जन्म होने का जो कारण बनता है वह गोत्र कर्म है। समस्त कार्यों में बाधा उपस्थित होना, दान–लाभ–भोग–उपभोग वीर्य इन सबमें बाधक बनने वाला अन्तराय कर्म है।

इन आठ कर्मों से यह आत्मा बुरी तरह जकड़ा हुआ है। बहुत गाढ़ रूप से कसा हुआ है। इस स्थिति के बीच में आत्मा की भावना जागृत हो भी कि मैं प्रभु के दर्शन को प्राप्त करके अपने जीवन में परिपूर्णता लाऊं, तो वह इन कर्मों में से चार बलवान् कर्मों को क्षय किये बिना परिपूर्ण केवलज्ञान की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। आठ कर्मों में से चार घनघाती कर्मों की छंटनी करनी है। वे कौन से घन–धाती कर्म है। जो आत्मा को अधिक दबाने वाले हैं ? वे कर्म हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोह। इनमें भी मोह कर्म बड़ा बलवान् है।

मोहणिज्जंपि दुविहं, दंसणे चरणे तहा
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुंविहं भवे।

–उ. सू. अ. 33 गा. 8

वह मोह कर्म भी दो प्रकार का है। भगवान् महावीर ने अन्तिम देशना के समय जो उद्घोषणा की उसमें ये दो भेद बताये गये हैं–एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। इस मोह कर्म ने किस प्रकार हाथ पैर फैलाये हैं इसका अनुमान करना है। दर्शनमोह दर्शनशक्ति को ढकता है अर्थात् आत्मा यदि कुछ प्रयास करके सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की ओर बढ़ना चाहे, जीवाजीव आदि नव तत्त्व का विज्ञान प्राप्त करके वन्धनों से छुटकारा पाने का प्रयास करे तो उस प्रयास में तथा तत्वादि के विश्वास पैदा होने में वाधक वनने वाला दर्शनमोह है। दर्शनमोह से आत्मा का शुद्धीकरण परिमार्जन आदि

नहीं होता है। आत्मा जीवादि पर विश्वास पूर्वक धर्म को ठीक नहीं समझता। वह अधर्म को धर्म समझता है, धर्म को अधर्म समझता है, आत्मा को अनात्मा और अनात्मा को आत्मा समझता है। साधु जीवन कितना पवित्र है जिसकी संसार को कितनी आवश्यकता है और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ महानुभाव प्रयास भी करते हैं फिर भी साधु को असाधु समझने और असाधु को साधु समझने का चेष्टा करने में दर्शनमोह सहायक बनता है। यह बड़ी विडम्बना है।

इसके परिमार्जन के लिए बहुत कुछ प्रयास करने की आवश्यकता है। दर्शनमोह कर्म के बेकार होते ही, टूटते ही, अन्दर से छिन्न भिन्न होकर छँटनी होती है। जैसे कभी–कभी पहाड़ के अन्दर अमुक जाति का पत्थर है। उस पत्थर को कलाकार तोड़ता है और कई विभाग करके छंटनी करता है। उस पत्थर की पालिश करते–करते ऐसी भी दशा बन जाती है कि वह दर्पण का काम करता है, कभी–कभी ऐनक में काम देता है। यह ऐनक में कांच है वह किसका बना हुआ है ? पत्थर के चश्में भी बनते हैं। तो वह पत्थर खदान में था। उसे स्वच्छ किया तो वहीं नेत्रों के सामने आया। लेकिन उसने अंधेरा नहीं किया, रोशनी, भुलाई नहीं बल्कि नेत्र की रोशनी बढ़ाने में वह मददगार ही बना। बाधक नहीं साधक बना। जैसे बाह्य पदार्थों का परिमार्जन और संशोधन होने से पत्थर भी साधक बनता है उसी प्रकार दर्शनमोह के भी विभाग होते हैं। वह तीन अवस्थाओं में विभक्त हो जाता है।

सूत्र :–

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे।

–उ. सू. 33 अ. 9

उसके रूपान्तर हुए। तीन विभाग हुए–(1) सम्यक्त्व मोहनीय (2) मिथ्यात्व मोहनीय (3) मिश्र मोहनीय। आप बोलते हैं–इसमे समकित आ गई। महाराज इसे समकित दे दो। लेकिन समकित क्या और सम्यक्त्व क्या है ? सम्यक्त्व मोहनीय क्या है ? सम्यक्त्व, समकित और सम्यक्त्व मोहनीय, इस प्रकार शब्दों का प्रयोग तो होता

है पर इनका भेद भी समझने की आवश्यकता है।

सबसे पहले सम्यक्त्वमोहनीय की स्थिति बनती है। समझना चाहिये कि अब यह सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य बना है। सम्यक्त्वमोह का तात्पर्य क्या ? दर्शनमोह के तीन विभाग अभी बताए गए हैं। उनमे से प्रथम विभाग, जिसे सम्यवमोहक्त्नीय कहते हैं, वह है तो दर्शनमोह कर्म का भेद ही पर वह आत्मा की श्रद्धा पैदा होने मे बाधक नहीं बनता बल्कि आत्मा को कुछ दर्शन–स्वरूप नेत्र की रोशनी देता है। सम्यक्त्वमोह के दलिकों का उदय होता है तो आत्मा क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करती है। कभी मनुष्य बोल देता हैं कि कर्मो के उदय की स्थिति आत्मा के लिए सदा बाधक है, यह आम आवाज है। प्रायः कर बोलने की स्थिति में यही आता है कि आत्मा कर्मों के उदय से संसार में परिभ्रमण करता है, चक्कर खाता है। पर आपको ध्यान रखना चाहिये कि जैन दर्शन एकान्तवादी नहीं है, यह अनेकान्त दृष्टि को लेकर चलता है। कर्मों का उदय रुलाने वाला ही है, यह एकान्त धारणा किसी की है तो वह गलत है। कर्मों के उदय की अवस्था में भी आत्मा जाग्रत होती है। अभी आप इस पोशाक में बैठे हैं तो आपके कर्मों का उदय है या नहीं ? आयुष्य कर्म का उदय है तब इस शरीर को लेकर बैठे हैं। नाम कर्म का उदय है तो शारीरिक रचना के रूप में अलग–अलग नाम है। गोत्र कर्म का उदय है तो आपके ऊँच–नीच गोत्र धारण करने की स्थिति है। सातावेदनीय का उदय है तो शान्ति से बैठे हैं। अगर सातावेदनीय का उदय नहीं होता तो क्या होता ? आसाता वेदनीय कर्म का उदय होता तो क्या आप व्याख्यान सुन सकते ? नहीं। असाता वेदनीय कर्म का उदय होता तो आप खांट पकड़ते। असाता–वेदनीय कर्म का उदय आने पर धर्मवृत्ति भी प्रायः अच्छी नहीं लगती है। आज जो कुछ भी धर्मध्यान करने की स्थिति है वह साता वेदनीय कर्म के उदय का भी कारण है। अगर मनुष्य के नामकर्म के उदय की स्थिति सही रूप में नहीं होती तो ये पांच इन्द्रियां तन्दुरुस्त नहीं होती। आयुष्य कर्म का उदय नहीं होता तो शास्त्र–श्रवण का संयोग नहीं मिलता। मनुष्यपन की भावना नहीं होती तो क्या आप आत्मतत्त्व को समझने की चेष्टा करते ?

आपको और आगे बढ़ाऊं ! यह उदय तो लगभग तीर्थंकरों के साथ भी चलता है। जो केवली हैं, सर्वज्ञ हो गये, उनके भी चार कर्मो का उदय चलता है। वहां भी चार कर्मो सम्बन्धी उदय भाव की स्थिति रही है। वहां नामकर्म का उदय है। यद्यपि तेरहवें गुणस्थान मे रहने वाली आत्मा कृत–कृत्य हो गई। अब आत्म–साधना की दृष्टि से क्रिया करने की आवश्यकता नहीं रही। उनका विचरण, परिभ्रमण, बोलना, उठना बैठना, ये सारी क्रियाएँ जन–कल्याण की शुभ भावना से होती हैं। उनको अपने आत्म–कल्याण के उपदेश देने की आश्यकता नहीं रही। उनसे नीचे दरजे वाले साधक सन्तवृन्द हैं। वे उपदेश देते हैं तो जनता के हित के लिए ही देते हैं ऐसा एकान्त नियम नहीं है। वे स्वर–हित की दृष्टि से उपदेश करते हैं। स्वयं की आत्म–शुद्धि के लिए भी उपदेश देते हैं। आप सोचते होगें कि महाराज ये बातें हमको ही सुना रहे हैं। लेकिन आपको ही सुना रहा हूँ ऐसा ही न समझें। मैं अपनी आत्मा को भी सुना रहा हूँ आपके माध्यम से। यदि मेरा विवेक ठीक तरह से है और किसी प्रकार का प्रलोभन अन्दर मे नहीं, आसक्ति भावना नहीं तो वीतराग–वाणी के अनुसार श्रवण करने वाला निश्चय रूप से निर्जरा करता है। यानि आत्मा पर लगी हुई कर्म रूपी मलीनता को वह कुछ हिस्से में साफ करता है। शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से कर्मो का देश से आत्मा से हटना निर्जरा है। श्रोताओं की निर्जरा होती भी है और नहीं भी होती है। उसमें भजना है। इधर वक्ता में निर्जरा की नियमा है। तो जब तक साधक केवली नहीं बनता है तब तक नाम कर्म के उदय के अन्तर पेटे मे वचनयोग है, यह उदय की अवस्था है। केवली बन जाने के बाद कृत–कृत्य हो गये, सर्वज्ञ बन गये। उनके भी वचन का प्रयोग होता है। वहां नाम कर्म का उदय है, वह जन–कल्याण के लिए होता है।

मै मोहकर्म की बात कह रहा था कि उस दर्शनमोह के टुकड़े होते हैं तो तीन संज्ञाएं बन जाती हैं। उनमें से दर्शनमोह कर्म के जो स्वच्छ परमाणु हैं उनके उदय होने पर आत्मा को क्षयोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अवशेष दो संज्ञाओं में से एक मिथ्यात्व और दूसरी मिश्र मोहनीय संज्ञा बनती हैं।

सम्यक्त्व मोह कांच के समान है, ऐसी उपमा दी जा सकती है। जैसे अलमारी में पुस्तकें पड़ी हैं और अलमारी पर कांच का कपाट लगा है तो उस अलमारी में कितनी पुस्तकें है, यह देखा जा सकता है पर पुस्तकों को सीधा पकड़ा नहीं जा सकता। यदि लकड़ी के कपाट में पुस्तके पड़ी हैं तो उन्हें देख भी नहीं पायेंगे। वैसे ही दर्शनमोह का भेद जो सम्यक्त्व मोहनीय है उसे कांच के समान समझना चाहिये। इसके उदय से जीव नौ तत्त्वादि की श्रद्धा को शुद्ध आत्म–प्रदेशों से ग्रहण नहीं कर पाता फिर भी सम्यक्श्रद्धा की दृष्टि से जागृति करने वाला सम्यक्त्वमोहनीय बनता है। वह सम्यक्त्वमोहनीय कर्म सम्यग्–दर्शन् में बाधक नहीं बनता है। और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय रहने पर मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का बन्धन नहीं होता। इसकी उपस्थिति मे सकाम निर्जरा हो सकती है। यह बाधक नहीं बनता।

मिथ्यात्वमोहनीय के उदय में मिथ्यात्व मोहकर्म का बंध भी होता है। मैं बतला रहा था कि आप यदि भगवान् के दर्शन करना चाहते हैं तो कर्मों में जो बलवान कर्म हैं, जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय, इनको कमजोर करने के लिए बहुत कुछ प्रयास करने की आवश्यकता है। जिस रोज से घाती कर्म कमजोर बन जायेंगे और मुख्य तौर पर मोह कर्म कमजोर बन जायगा तो तीनों घाती कर्म ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अतंराय स्वतः कमजोर हो जायेंगे। तभी आप भगवान् के दर्शन करने के पात्र बनेंगे। मोह कर्म सबसे बड़ा प्रबल सेनापति है। जैसे सेनापति के हताश हो जाने के बाद सेना में जान नहीं रहती वैसे ही मोह कर्म के कमजोर हो जाने के बाद शेष कर्म भी ढीले पड़ जाते हैं। यदि मोह कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है तो तीनों कर्मों का भी क्षय हो जाता है। इन चारों घन–घाती कर्मों के क्षय होते ही केवल ज्ञान की दशा प्राप्त हो जाती है। उपरोक्त विवेचन से आप लोगों को भी शुद्ध श्रद्धा की स्थिति को सामने रखते हुए मिथ्यात्व मोह सम्बन्धी प्रकृतियों का क्षय क्षयोपशम या उपशम करने की भावना करनी चाहिये। वह भावना सफलीभूत कब बन पायेगी ? जब कि आपकी आन्तरिक भावना बाह्य जड़ पदार्थों के प्रति अत्यधिक आसक्ति के रूप में नहीं रहेगी। यद्यपि जड़

पदार्थो के प्रति अत्यधिक आसक्ति की भावना प्रायः संसार के प्राणियों में पाई जाती है। सिर्फ मनुष्यों में ही नहीं बल्कि पशु , पक्षी नरक, स्वर्ग आदि के प्राणियों में भी न्यूनाधिक रूप में पाई जाती है। उनमें से जिन प्राणियों के क्षय क्षयोपशम या उपशम होता है वे सम्यक्त्वधारी कहलाते हैं। यदि क्षय, क्षयोपशम या उपशम इन तीनों अवस्थाओं में से किसी का भी प्रसंग आत्मा के साथ नहीं रहा तो मिथ्यात्वमोहनीय के उदय के साथ अनन्तानुबन्धी का उदय रहेगा। इसका उदय होने पर समकित नहीं पाती।

सम्यक्त्वमोहनीय के उदय की स्थिति में जीव अनेक पूर्व जन्मों के पापों पर रोक लगाकर जीवन की उच्च स्थिति कायम करता है और सुदेव सुगुरु सुधर्म की भावना रखता है। यह भावना जिस किसी में रहती है उसके आत्मविकास के आगे के कार्यों का प्रारम्भ होता है।

मूल टूटता है तो वृक्ष के सूखने का प्रसंग आता है। मूल नहीं सूखता है और ऊपर से काट लिया जाता है, जड़ मजबूत है तो वह फिर से हरा–भरा हो सकता है रिझके की तरह। रिझका आप जानते हैं ? शहर के भाई रिझके नाम से नहीं भी जानते हो पर गांव के भाइयों को अनुभव है कि यह एक तरह का घास होता है जो बैलों को खिलाने के लिए पैदा किया जाता है। उसे एक बार बो देते है। वह अपनी जड़े जमा लेता है। किसान ऊपर से काटते हैं, वह फिर बढ़ आता है। ऊपर–ऊपर से काटते जाने के बाद भी वह नष्ट नहीं होता क्योंकि जड़े जमी है। अगर जड़ों को उखाड़ दिया तो वह फिर नहीं बढ़ सकता।

वैसे ही मोहकर्म रिझका है। इसकी जड़े जमी हैं और आपने ऊपर–ऊपर से काट भी लिया, कतरन कर दी लेकिन अन्दर की जड़ों को नहीं उखाड़ा तो कभी न कभी यह फिर फलने लग जायगा।

शास्त्र में वर्णन आया कि चौथे गुणस्थान पर आत्मा आरोहण करता है और वहां से यथासम्भव विकास करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक चला जाता है। लेकिन ग्यारहवें गुणस्थान से पलटा खाकर नीचे गिरती है और यदि संभलने का अवसर नहीं आता है तो

कभी–कभी मिथ्यात्व तक में चला जाता है। कई आत्माएं क्षयोपशम सम्यक्त्व रखने पर भी नरक तक भी जा सकती हैं। ऐसा प्रसंग क्यों आता है ? इसलिए कि उस जड़ को उखाड़ा नहीं और ऊपर–ऊपर से ही कतरन की है। भगवान् ने कहा–सद्धा परमदुल्ला। भगवान् ने श्रद्धा को दुर्लभ बताया। चारित्र को दुर्लभ नहीं बताया, केवल ज्ञान को दुर्लभ नहीं बताया, सिद्ध भगवान की स्थिति को दुर्लभ नहीं बताया पर श्रद्धा को दुर्लभ बताया। अगर श्रद्धा मजबूत है तो चारित्र अवश्य आयेगा। चरित्र आयेगा तो केवलज्ञान अवश्य होगा, जिसे केवलज्ञान आयेगा वह आत्मा सिद्ध अवस्था अवश्य प्राप्त करेगा। यद्यपि सिद्ध अवस्था आखिरी है तथापि दुर्लभ न बताकर श्रद्धा को दुर्लभ बताया, इसके पहले एक बात और बताई–

माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।

–उ०सू०अ० 3 गा० 1

पहले मनुष्य–पन अर्थात् मनुष्यता आनी चाहिये। यह अति दुर्लभ है। उसके बाद शास्त्रों का श्रवण, फिर श्रद्धा और फिर संयम में पराक्रम। ये चार बातें मनुष्य शरीर द्वारा ही प्राप्त होती है। अतः मनुष्य शरीर की दृष्टि से मनुष्यत्व की दुर्लभता बताने से नाम कर्म के उदयभाव की स्थिति का भी संकेत आ गया है।

उदय भाव का तन दुर्लभ इसलिए बताया कि इसके धरातल पर वह श्रद्धा है। इसी के धरातल पर आत्मा का चारित्र, केवल ज्ञान और सिद्ध अवस्था प्राप्त की जा सकती है। क्योंकि सम्यक्त्व से लेकर के केवल ज्ञान की अवस्था प्राप्त करने में शरीर माध्यम बनता है। उस प्रकार शरीर के बिना केवल ज्ञान कभी पैदा नहीं हो सकता। आप इस विज्ञान की स्थिति को मस्तिष्क में लेकर ध्यान से चिन्तन करें कि हम इस तन का सदुपयोग कर रहे हैं या दुरुपयोग ? मान लीजिये किसी सिद्ध पुरुष की कृपा दृष्टि से एक व्यक्ति को चिन्तामणि रत्न मिल गया। उस रत्न का उपयोग किसी तरह से किया जायेगा ? वह क्या चूर्ण चटनी बांटने के काम में लिया जाय ? यदि इस रत्न को एक पुरुष नमक मिर्च मसाले बांटने के पत्थर के बदले में घिसता है तो आप उसे क्या कहेंगे ? बुद्धिमान कहेंगे ? चतुर कहेंगे ? नहीं।

सकेंगे।

बन्धुओं ! जिस आत्मा ने सम्यक्त्व रूप रत्न को प्राप्त किया और मनुष्यतन की दुर्लभता का नक्शा जिसके सामने आ गया, उसका वह नक्शा गृहस्थाश्रम की दशा में भी किस ढंग का होता है, यह थोड़ा कथा भाग से भी समझना आवश्यक है।

महारानी पुष्पदन्ती जब श्रेष्ठ स्वप्न के साथ गर्भवती हुई तो गर्भ की अवस्था में उसने अपने जीवन को किस ढंग से रखने की प्रतिज्ञा की ? कितने नियम उपनियम जीवन की मर्यादाओं के साथ करती है ? इसका मैं कुछ जिक्र कर गया हूं ! महारानी शान्ति के साथ चल रही है। उसने उन्हीं प्रतिज्ञाओं के साथ गर्भ का पालन किया। वह सोच रही थी कि सन्तान का जीवन उज्ज्वल बने। प्रसव समय के आने पर उसकी कुक्षि से एक पुत्रीरत्न का जन्म हुआ। माता ने देखा तो वह बड़ी प्रसन्न हुई माता के मन में पुत्र–पुत्री का भेद नहीं था। उसके मस्तिष्क में विषमता नहीं थी। क्योंकि समदृष्टि आत्मा किसी पर रागद्वेष नहीं करता। वह समय पर जो उपलब्ध होता है उसी में आनन्द का अनुभव करता है। पुत्री जन्म पर दुखित होना और पुत्र जन्म का आनन्द मनाना यह किनका कार्य है ? आप चुप है ! सोचते हैं–महाराज, आप तो फरमाते जाइये हिसाब मत पूछिये। आप चुप हैं। मैं तो कहता जा रहा हूं पर दोनों नक्शों को रख दूंगा तो तुलनात्मक दृष्टि से आपको चिन्तन करने का प्रसंग आयेगा। आज के मेरे अधिकांश भाई बहन पुत्र जन्म पर आनन्द से विभोर होकर नाचने लग जाते है। और कदाचित् गुणवती कन्या का भी जन्म हो गया तो उनका चेहरा उतर जाता है, वे उदास हो जाते हैं और सोचते हैं–यह कहां से आ गई ?

स्वर्गीय आचार्य श्री जी महाराज साहब फरमाया करते थे कि एक छोटी सी बच्ची मां के साथ दर्शन करने आई। आचार्य श्री जी कभी–कभी पूछ लिया करते थे–बाई, तुम्हारा नाम क्या है ? बच्ची ने कहा–मेरा नाम अणचाई ! आचार्य श्री जी महाराज जरा मुस्कराए तो मां ने स्पष्टीकरण किया–महाराज, मेरे छः छोकरियां हो गई। अब मैं और मेरे परिवार वाले छोकरी नहीं चाहते फिर भी यह रांड जन्म गई

इसलिए इसका नाम अणचाई (अनचाही) रख दिया। यह विषम दृष्टि है या सम दृष्टि ?

अरे सम्यक् दृष्टि का फतवा लेने वाले मेरे भाइयो ! जरा सोचो ! यह तो एक संयोग है कि बच्चा या बच्ची हो जाय, पर आप क्यों रागद्वेष की प्रवृत्ति बढ़ाने में तत्पर होते हो ?

इस रागद्वेष का कारण यह है कि आपने अपना जीवन बेढंगा बना रखा है, विषम जीवन बना रखा है। सामाजिक क्षेत्र में भी इस प्रकार की विषमता एवं कुरीतिरिवाज पैदा कर रखे हैं कि द्वेष का प्रसंग आता है। दहेज प्रथा के भूत ने यह भावना और अधिक बलवती कर दी। यह मलीन वृत्ति पैसे के पीछे पैदा हुई। पैसे को ही जो मान्यता देता है क्या वह सम्यग्दृष्टि है ? नहीं।

मैं कहूँगा—आप अपने जीवन को स्थिर करिये। मैं यह तो नहीं कहता हूं कि आप सब पैसों के बिना विचारे त्याग कर दें। हां, साधु बनना है तो त्याग करना ही होगा, पर गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी पैसे को सर पर लादे मत फिरिए। इसको सिर पर लेकर चलने के कारण ही विषमता बढ़ी हुई है। दूसरा दृष्टिकोण है मिथ्यात्त्व। मिथ्यात्त्व के कारण भी विषमता बढ़ी हुई है। जिस रोज यह विषमता समाप्त होगी उस रोज समझना चाहिये कि जीवन में कुछ सम्यग् दृष्टि पाने का नक्शा आया है।

महारानी की दर्शनमोह की गांठ टूट चुकी थी। इसलिए जब उसने पुत्री को देखा तो आनन्दित हुई। फिर उस आनन्द में चार चांद और लग गये जब कि उस पुत्रीरत्न के आकृति–चिह्न आदि देखे। जन्मने के पश्चात् कुछ आटा वगैरह बनाकर, फेरकर अवयवों को ठीक करते है। कन्या के मस्तिष्क पर एक तिलक देखा जो भव्य रूप से शोभा दे रहा था। जिसने भी देखा सभी को प्रसन्नता हुई। परिवार वालों ने देखा कि यह विचित्र ढंग का तिलक है। उसे देखने के लिए नर–नारियो का तांता लग गया। आजकल भी कोई अनोखी चीज आती है तो देखने के लिए तांता लग जाता है।

कन्या के जन्म के प्रसंग से एवं राजघराना होने से नामकरण के लिए कई विद्वान ज्योतिषियो को बुलाया गया। पर माता ने

कहा–मुझे बाहर के काल्पनिक नामों पर विश्वास नहीं है। मैं गुण–नाम पर विश्वास करती हूँ। मुझे हाथी का स्वप्न आया। उसने दावानल से घबराकर राजभवन में विश्रान्ति पाई। मैं उसी आधार पर इस कन्या का नाम रखना चाहती हूँ–दवदन्ती। आग से घबराकर हाथी आया इसलिए इसका नाम भी उस भावना के आधार पर दवदन्ती रखा जावे। दव कहते हैं आग को और दन्ती यानि हाथी।

'दवदन्ती' नाम दे देने के बाद यह कन्या बढ़ने लगी तो महाराज के राज्य में भंडार में, परिवार में अच्छे कार्यों में वृद्धि हुई। पुण्यवान आत्मा जिस घर में जन्म लेता है उस घर की शोभा बढ़ जाती है। दवदन्ती के कारण घर की अपूर्व शोभा बढ़ी। जो घर एक किनारे छिपा होता है, जिसका किसी को कोई पता भी नहीं होता, ऐसे घर में पुण्यवान आत्मा का जन्म हो जाय तो वह घर सूर्य के समान चमकने लग जाता है। यह पुत्रीरत्न जब से महाराज भीम नरेश के घर में आयी तब से सब तरह की वृद्धि देखकर इसे प्यार से परिजन दमयन्ती के नाम से पुकारने लगे।

उसे 64 कलाएं सिखाई गईं। बाहरी कलाओं के साथ ही साथ धार्मिक कला का ज्ञान भी सिखाया। अन्दर के जीवन को पवित्र बनाने की कला बचपन से ही दी गई। माता स्वयं सुसंस्कारों से ओतप्रोत तो थी ही, उसने धार्मिक संस्कार देने में किसी प्रकार कसर नहीं रखी। उसने धार्मिक कला के साथ ही साथ 64 कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह रूप लावणय से भी बहुत उत्तम थी। फिर भी उसमें अभिमान की मात्रा नहीं सी थी। उसने यह नहीं सोचा कि मैं राजघराने की राजकन्या हूँ। मेरे अधीन नौकर–चाकर दास, दासी हैं। अतः मैं इनके साथ अभिमानपूर्वक चलूं। पर वह सबके साथ प्रेमपूर्वक इस ढंग का व्यवहार करती जैसे कोई घर के सदस्यों से करती हो, वह सबको प्रिय लगने लगी। सब कहने लगे–यह तो देवी है, न मालूम कहां से अवतार लिया है। बचपन में मां–बाप ने धर्म के संस्कार उसे दिये तो योग्य वय में उसने धर्मशास्त्रों का विशेष अध्ययन भी किया। वह नव तत्व स्याद्वाद का सिद्धान्त, नय, निक्षेप आदि–आदि बातों को भलीभांति समझ लेती थी। कुंवारी अवस्था में ही जैन धर्म के

सिद्धान्तों को वह स्पष्ट रूप से समझ चुकी थी। उसने जब देखा कि मेरे पिता की वृत्ति धर्म की ओर मन्द है तो वह अपने पिता समझाकर धर्म की ओर लगाती है। उसने पिता के जीवन में भी परिवर्तन कर दिया। पिता को ही नहीं बल्कि कई लोगों को उसने धर्म में दृढ़ बनाया। उस कन्या का जीवन कितना महत्वपूर्ण था !

कई व्यक्ति सोचते हैं कि मुझ में श्रद्धा है या नहीं इसकी क्या पहचान है ? कोई कहता है–महाराज ! मैं भव्य हूँ या अभव्य ? इसका शास्त्रीय दृष्टि से तो लम्बा चौड़ा उत्तर है। मैं उसकी सार बात बता देना चाहता हूँ। सम्यक्त्व के पांच लक्षण पहले ख्याल में लीजिए। वे हैं–सम, संवेग, निर्वेद अनुकम्पा व आस्था। ये पांच बातें उसमें हैं या नहीं ? दूसरी बात संसार के विषय, पांच इन्द्रियों के विषय, और संसार के प्रपंच अन्तर आत्मा को कैसे लगते हैं ? संसार के पदार्थो के प्रति आसक्ति भावना है, उदासीन भावना है तो समझना चाहिये कि कुछ श्रद्धा का स्वरूप स्वयं में है और भव्य भी है। और यदि अत्यासक्ति की भावना है तो समझना चाहिये कि वे चट्टानें अभी बनी हुई है जिन्हें मैं तोड़ नहीं पा रहा हूँ। आपको इस प्रकार का नक्शा लेकर जीवन को बदलना चाहिये।

महात्मा के मुँह से नल आदि परिषद् इस वृत्तान्त को सुन पा रहे थे। वे महात्मा विशिष्ट ज्ञानी थे। नल की जिज्ञासा अन्तिम स्थिति के छोर पर आने लगी। पर नल के मन में जिज्ञासा थी कि दमयन्ती ने जो यह प्रकाश प्राप्त किया वह कैसे किया ?

महाराज कहने लगे–नल ! यह दमयन्ती तुम्हारी एक जन्म की साथिन नहीं है, कई जन्मों से साथ रहती आई है। इसने धर्म की साधना की है इस बाला के सिर पर जन्मते ही तिलक था। वह उसकी आन्तरिक शक्ति को व्यक्त करने वाला था। इतने समय तक लोगों को इसका पता नही था। इसके तपोबल से धार्मिक शुद्ध श्रद्धा से वह रोशनी आई। वह रोशनी किसी बाहरी पदार्थ की नहीं थी, उसके आन्तरिक जीवन की पूर्व जन्म की उपलब्धियों का फल था।

शास्त्र मे 28 प्रकार की लब्धियों का वर्णन है। उनमें से एक इस प्रकार की भी होती है कि संकल्प–पूर्वक आन्तरिक शक्ति के

कहा–मुझे बाहर के काल्पनिक नामों पर विश्वास नहीं है। मैं गुण–नाम पर विश्वास करती हूँ। मुझे हाथी का स्वप्न आया। उसने दावानल से घबराकर राजभवन में विश्रान्ति पाई। मैं उसी आधार पर इस कन्या का नाम रखना चाहती हूँ–दवदन्ती। आग से घबराकर हाथी आया इसलिए इसका नाम भी उस भावना के आधार पर दवदन्ती रखा जावे। दव कहते हैं आग को और दन्ती यानि हाथी।

'दवदन्ती' नाम दे देने के बाद यह कन्या बढ़ने लगी तो महाराज के राज्य में भंडार में, परिवार में अच्छे कार्यों में वृद्धि हुई। पुण्यवान आत्मा जिस घर में जन्म लेता है उस घर की शोभा बढ़ जाती है। दवदन्ती के कारण घर की अपूर्व शोभा बढ़ी। जो घर एक किनारे छिपा होता है, जिसका किसी को कोई पता भी नहीं होता, ऐसे घर में पुण्यवान आत्मा का जन्म हो जाय तो वह घर सूर्य के समान चमकने लग जाता है। यह पुत्रीरत्न जब से महाराज भीम नरेश के घर में आयी तब से सब तरह की वृद्धि देखकर इसे प्यार से परिजन दमयन्ती के नाम से पुकारने लगे।

उसे 64 कलाएं सिखाई गईं। बाहरी कलाओं के साथ ही साथ धार्मिक कला का ज्ञान भी सिखाया। अन्दर के जीवन को पवित्र बनाने की कला बचपन से ही दी गई। माता स्वयं सुसंस्कारों से ओतप्रोत तो थी ही, उसने धार्मिक संस्कार देने में किसी प्रकार कसर नहीं रखी। उसने धार्मिक कला के साथ ही साथ 64 कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह रूप लावणय से भी बहुत उत्तम थी। फिर भी उसमें अभिमान की मात्रा नहीं सी थी। उसने यह नहीं सोचा कि मैं राजघराने की राजकन्या हूँ। मेरे अधीन नौकर–चाकर दास, दासी हैं। अतः मैं इनके साथ अभिमानपूर्वक चलूं। पर वह सबके साथ प्रेमपूर्वक इस ढंग का व्यवहार करती जैसे कोई घर के सदस्यों से करती हो, वह सबको प्रिय लगने लगी। सब कहने लगे–यह तो देवी है, न मालूम कहां से अवतार लिया है। बचपन में मां–बाप ने धर्म के संस्कार उसे दिये तो योग्य वय में उसने धर्मशास्त्रों का विशेष अध्ययन भी किया। वह नव तत्व स्याद्वाद का सिद्धान्त, नय, निक्षेप आदि–आदि बातों को भलीभांति समझ लेती थी। कुंवारी अवस्था में ही जैन धर्म के

सिद्धान्तों को वह स्पष्ट रूप से समझ चुकी थी। उसने जब देखा कि मेरे पिता की वृत्ति धर्म की ओर मन्द है तो वह अपने पिता समझाकर धर्म की ओर लगाती है। उसने पिता के जीवन में भी परिवर्तन कर दिया। पिता को ही नहीं बल्कि कई लोगों को उसने धर्म में दृढ़ बनाया। उस कन्या का जीवन कितना महत्वपूर्ण था !

कई व्यक्ति सोचते हैं कि मुझ में श्रद्धा है या नहीं इसकी क्या पहचान है ? कोई कहता है–महाराज ! मैं भव्य हूँ या अभव्य ? इसका शास्त्रीय दृष्टि से तो लम्बा चौड़ा उत्तर है। मैं उसकी सार बात बता देना चाहता हूँ। सम्यक्त्व के पांच लक्षण पहले ख्याल में लीजिए। वे हैं–सम, संवेग, निर्वेद अनुकम्पा व आस्था। ये पांच बातें उसमें हैं या नहीं ? दूसरी बात संसार के विषय, पांच इन्द्रियों के विषय, और संसार के प्रपंच अन्तर आत्मा को कैसे लगते हैं ? संसार के पदार्थों के प्रति आसक्ति भावना है, उदासीन भावना है तो समझना चाहिये कि कुछ श्रद्धा का स्वरूप स्वयं में है और भव्य भी है। और यदि अत्यासक्ति की भावना है तो समझना चाहिये कि वे चट्टानें अभी बनी हुई हैं जिन्हें मैं तोड़ नहीं पा रहा हूँ। आपको इस प्रकार का नक्शा लेकर जीवन को बदलना चाहिये।

महात्मा के मुँह से नल आदि परिषद् इस वृत्तान्त को सुन पा रहे थे। वे महात्मा विशिष्ट ज्ञानी थे। नल की जिज्ञासा अन्तिम स्थिति के छोर पर आने लगी। पर नल के मन में जिज्ञासा थी कि दमयन्ती ने जो यह प्रकाश प्राप्त किया वह कैसे किया ?

महाराज कहने लगे–नल ! यह दमयन्ती तुम्हारी एक जन्म की साथिन नहीं है, कई जन्मों से साथ रहती आई है। इसने धर्म की साधना की हैं इस बाला के सिर पर जन्मते ही तिलक था। वह उसकी आन्तरिक शक्ति को व्यक्त करने वाला था। इतने समय तक लोगों को इसका पता नहीं था। इसके तपोबल से धार्मिक शुद्ध श्रद्धा से वह रोशनी आई। वह रोशनी किसी बाहरी पदार्थ की नहीं थी, उसके आन्तरिक जीवन की पूर्व जन्म की उपलब्धियों का फल था।

शास्त्र में 28 प्रकार की लब्धियों का वर्णन है। उनमें से एक इस प्रकार की भी होती है कि संकल्प–पूर्वक आन्तरिक शक्ति के

माध्यम से बाहर के पदार्थों को देखा जा सकता है। इसके पास वैसी शक्ति थी।

ये शक्तियां आधुनिक युग में भी रूपान्तरित अवस्था में किसी–किसी आत्मा में व्यक्त हो सकती हैं। पूर्व में कुछ ऐसी घटनाएं हुई और आज भी कुछ ऐसी घटनाएँ हो सकती हैं। मैं अभी उनका जिक्र करना उचित नहीं समझता क्योंकि व्याख्यान का समय पूरा हो गया है।

वे महात्मा नल आदि परिषद के सामने उपदेश दे रहे थे। तब नल ने समझा कि यह दमयन्ती महान् पुणयात्मा है। मेरा भाग्य अत्यन्त प्रबल है कि मेरा इसके साथ सम्बन्ध हुआ। अब मैं इससे क्षमा मांग कर शुद्धि करूं।

नल महात्मा के चरणों में गिरकर वन्दन नमस्कार करता है। सारी परिषद् भी वन्दन नमस्कार करती है।

शुद्ध श्रद्धा का बीज मिथ्यात्वमोह के पत्थर के हटने पर अन्तर में जागृति करा सकता है। मैं प्रार्थना की कड़ियों में कह गया हूँ कि चार घाती कर्म ही जबरदस्त डूंगरियाँ हैं। उनमें से मोह कर्म सबसे बड़ा सरदार है। मोह कर्म के भी दो भेद हैं। एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। आगे चलकर दर्शनमोह के तीन भेद किये जो आपके सामने रख दिये गये हैं। आगे की स्थिति कैसे क्या बनती है, वह भावी के गर्भ में रहने दीजिये। अभी मैं इतना ही संकेत देता हूँ कि आप इस मोह रूपी सरदार को मूल से नष्ट करने की कोशिश करेंगे तो आपका जीवन मंगलमय बनेगा।

इसी शुभ भावना के साथ

चारित्रमोह

अभिनन्दन .जिनदर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव ।। 1।।
घाती डूंगर आड़ा अति घणा, तुज दरिशन जगनाथ,
ढिठाई करी मारग संचरूं, सेंगु कोई न साथ ।। 2।।

ये अभिनन्दन भगवान की प्रार्थना की कड़ियां हैं। इन कड़ियों में आत्मा के ऊपर आये हुए घाती–डूंगर का जिक्र किया गया है। आत्मा अपने आपमें श्रेष्ठतम तत्त्व है। इस सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं उन सब में यदि सारवान कोई तत्त्व है तो वह आत्मा है। लेकिन इस आत्मा के ऊपर बहुत बड़े आच्छादन हैं, ढक्कन हैं। जितनी भी दुनियाँ में सार चीजें हैं उनमें मिलावट हुए बिना नहीं रहती। अच्छे घी में डालडा मिलेगा। सोने चांदी जवाहरात आदि अच्छी चीजें हैं। उनमें भी मिलावट अवश्य होती है और मिलावट के साथ व्यापार का नक्शा रहा हुआ है। जिस पदार्थ को स्वयं काम में लेना होता है उसमें कदाचित् मिलावट न होगी। उसे अलग रख लेंगे, पर व्यापार में ऐसी बात प्रायः कम मिलेगी।

वैसे ही एक प्रकार से व्यापार करने वाला सांसारिक आत्मा है। उसका भी एक व्यापार है। वह स्यापार बाहरी पदार्थों के लेन–देन का नहीं पर् अन्दर के विचारों के आदान–प्रदान के रूप में है। आत्मा स्वयं सोचने में समर्थ है। वह हिताहित को भली–भांति पहिचानने की क्षमता रखता है। पर उस क्षमता के पीछे मलीन आवरण का प्रसंग आ

जाता है तो फिर वह न प्रभु के दर्शन ही कर पाता है, न स्वयं के दर्शन ही कर पाता है और न हिताहित की स्थिति को भी भली भांति सोच पाता है।

दर्शन की स्थिति के साथ यहां चैतन्ययुक्त शरीरपिण्ड का उल्लेख समझना चाहिये और साथ ही साथ चार घाती कर्मो का वर्णन है। यद्यपि इन कड़ियों में कर्म का नाम नहीं है तथापित उनको यहां डूंगर के नाम से कवि ने लिया है। एक–एक का विषय बड़ा जबरदस्त है। इन विषयों के साथ आत्मा का सम्बन्ध अनादिकाल से लगा हुआ है। जिसमें मोहकर्म की प्रकृतियों का विषय आपके सामने आ रहा है। कल मैंने दर्शनमोह के विषय में कुछ कहा कि दर्शनमोह की स्थिति आत्मा के शुद्ध श्रद्धान को विचलित करती है। लेकिन चारित्रमोह का भी कुछ सम्बन्ध इसके साथ है। चारित्रमोह की प्रकृतियां इस प्रकार की बताई गई है–

चरित्त मोहणं कम्मं, दुविहं तं वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव य।।

–उ.सू.अ. 33 गा. 10

सोलसबिहभेएणं कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं।

–उ.सू.अ. 33 गा. 11

कषायमोहनीय और नोकषाय मोहनीय, ये चारित्रमोह कर्म के मूल दो भेद हैं। कषाय शब्द से आप परिचित हैं ? इन्हें आप क्रोध मान माया और लोभ शब्दों से कहते हैं। इसके सोलह भेद बताये गये हैं। नोकषाय मोहनीय के सात या नौ भेद समझने चाहिये। क्योंकि नोकषाय मोहनीय के अपेक्षादृष्टि से सात अथवा नौ भेद हैं। इस तरह का शास्त्र में उल्लेख किया गया है।

कषायमोहनीय की दृष्टि से सोलह भेद जो बनते हैं, उनमें विशेषण लगता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्दी लोभ अप्रत्यख्यान क्रोध अप्रत्यख्यान मान, अप्रत्याख्यानमाया और अप्रत्याख्यान लोभ। प्रत्याख्यान क्रोध, प्रत्याख्यान मान, प्रत्याख्यान माया, और प्रत्याख्यान लोभ। संज्वलन

ज्वक्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन लोभ, इस प्रकार सोलह भेद हैं। जहां सम्यक्त्व प्राप्ति के प्रसंग से सात प्रकृतियों का उल्लेख होता है उनमें तीन तो दर्शनमोह सम्बन्धी अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय हैं और चार अनन्तानुबन्धी की क्रोध मान माया और लोभ हैं। यह अनन्तानुबन्धी कषाय की क्रोध मान माया और लोभ हैं। यह अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी मिथ्यात्वमोह सम्बन्धी प्रकृतियां के साथ एक प्रकार से ग्रुप बनाकर रहती है। दर्शनमोह इनको नहीं छोड़ता और ये दर्शनमोह को नहीं छोड़ती। वास्तव में मोह कर्म के चार विभाग किये गये। उनमें से एक विभाग तो अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ और एक मिथ्यात्व मोहनीय का तथा दूसरा विभाग अप्रत्ख्यायानावरण क्रोध मान माया लोभ का तीसरा प्रत्याक्यानावरण क्रोध मान माया लोभ का, चौथा संज्वलन क्रोध मान माया लोभ का। इस प्रकार दर्शनमोह की तीन और चारित्र मोहनीय की चार प्रकृतियाँ बताई गई। इन सातों प्रकृतियों का क्षय होता है तो क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, क्षयोपशम होता है तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उपशम होता है तो उपशम सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है।

कभी–कभी अनन्तानुबन्धी चौकड़ी को लेकर भाई सोचते हैं–इनका क्षय क्षयोपशम और उपशम होने से त्याग रूप चारित्र धर्म आ जाता है। लेकिन देखने की बात यह है कि त्याग रूप चारित्र धर्म की स्थिति इस अनन्तानुबन्धी चौकड़ी की स्थिति के साथ नहीं है। अनन्तानुबन्धी का क्षय, क्षयोपशम या उपशम होने पर श्रद्धा की स्थिति में रमण आता है। अतः अनन्तानुबन्धी चौकड़ी के क्षय उपशम आदि अवस्था से क्षद्धा स्वरूप आचरण की उपलब्धि होती है। देख लेना यानि विश्वास कर लेना एक बात है और विश्वास में रमण करना दूसरी बात है। तो संसार के अन्दर रहने वाले जितने पदार्थ है। उनमे कौन से जानने योग्य है। और कौन से त्यागने योग्य हैं और कौन से आचरण करने योग्य हैं, इन तीनो अवस्थाओं का ज्ञान और उसे सही रूप में देखने का और तदनुरूप विश्वास रखने का नक्शा बनता है तो सम्यग् दृष्टि की स्थिति बनती है। पर विश्वास की स्थिति का रमण

होता है वहां इस चौकड़ी का क्षय, क्षयोपशम और उपशम का सम्बन्ध आता है। दर्शनमोह कर्म के क्षयोपशमादि से सिर्फ ज्ञान में सम्यग् भाव आता है। क्योंकि जानने रूप ज्ञान शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का होता है उस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व विशेषण लगने से वह सही ज्ञान कहलाता है और इतना कार्य दर्शनमोह कर्म के क्षयोपशमादि से बन जाता है। पर उस सम्यग्ज्ञान के साथ हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्वों पर विश्वास रूप आचरण अनन्तानुबन्धी चौकड़ी के क्षयोपशमादि से होता है। क्योंकि विश्वास रूप आचरण मिथ्याज्ञान के साथ होता है तो वह अनन्तानुबन्धी चौकड़ी के उदय की प्रधानता से होता है।

एक मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि अठारह पापों का सेवन करता हुआ अपना जीवन बिताता है। उसके जीवन में अठारह पापों का सेवन हो रहा है। वह अठारह पापों के विषय को जानता भी है लेकिन जानता व देखता कैसे है ? वह इस रूप में जान रहा है कि मैं अठारह पापों का सेवन कर रहा हूँ तो इनसे मुझे संसार में सुख–सामग्री प्राप्त होगी। इस दृष्टि से ही वह आचरण करता है। अगर इसके विपरीत कोई देखता है तो वह अठारह पापों को त्यागने योग्य समझता है त्यागने योग्य देखने जानने की मति जिसमें पैदा होगी वह दर्शनमोह से सम्बन्धित है लेकिन त्यागने योग्य के साथ विश्वास की स्थिति अनन्तानुबन्धी के क्षय से सम्बन्धित है। इसलिए अनन्तानुबन्धी के क्षय से श्रद्धा में विश्वासरूप आचरण की परिणति होती हैं। और उसका उदय होने से अनन्तानुवन्धी यानि अनन्त अनुबन्ध–अनन्त संसार का बन्ध होता है। संसार के वन्धन का तात्पर्य यह है कि वह संसार में परिभ्रमण करता है।

पूछा जाता है कि अनन्तानुवन्धी क्रोध की पहिचान क्या ? तो मोटे रूप में वताया जाता है कि पहाड़ के ऊपर रहने वाली चट्टानों की दरारों के समान जो हो वह अनन्तानुवन्धी क्रोध हैं। पहाड़ फटता है, उसमें चट्टानें टूटती है। एक वक्त टूट जाने के वाद फिर वे वापस नहीं मिलती। वह अवस्था तव तक वनी रहती है जव तक कि चट्टानों का अवस्थान हैं। यह उपमा अनन्तानुवन्धी क्रोध के लिए दी जाती है। किसी एक व्यक्ति का किसी एक व्यक्ति से मनमुटाव हो गया और

उनमें तीव्रता आ गई जिससे दोनों के दिल के टुकड़े हो गये, दोनों में दरारें पड़ गईं। अब उनका मिलना शक्य नहीं। मनुष्य का चोला नष्ट हो जाय तब तक भी मिले नहीं। ऐसा क्रोध अनन्तानुबन्धी क्रोध कहा गया है। ऐसे क्रोध की स्थिति जब तक बनी रहती है तब तक सुदेव सुगुरु सुधर्म पर समीचीन विश्वास नहीं हो सकता।

इसके बाद मान की स्थिति बताई गई है। उसकी उपमा बज्र के या पत्थर के खम्भे से दी गई। उस खम्भे को झुकाने की चेष्टा करें तो वह झुक नहीं सकता। वह खम्भा टूट सकता है पर झुका नहीं सकता। वैसे ही अनन्तानुबन्धी मान जिसमें होता है वह किसी भी हालत में झुकता नहीं।

इसी प्रकार माया की स्थिति का जिक्र करते हुए शास्त्रकारों ने बांस की जड़ का उदाहरण दिया। बांस की जड़ कितनी टेढ़ी मेढ़ी गंठीली होती है ! वह कभी सरल नहीं होती। वैसे ही जिसके मन में अत्यन्त गाढ़ माया है, ऐसा छल–कपट है कि वह जिन्दगी भर नहीं मिटे, जिन्दगी भर वह सरल नहीं बन पाये उसे अनन्तानुबन्धी माया समझना चाहिए।

लोभ के लिए किरमिची रंग के कपड़े का उदाहरण दिया गया है। किरमिची रंग किसी कपड़े पर चढ़ा दिया जाय तो वह रंग फिर उतरता नहीं। कपड़ा फट जायगा, धागा बिखर जायगा, और कपड़े का थोड़ासा भी भाग अवशेष है तो भी उसका रंग उड़ता नहीं। वैसे ही अनन्तानुबन्धी लोभ इतनी गाढ़ मात्रा में जम जाता है कि वह जीव को बाह्य सम्पत्ति के साथ रंगता है तो फिर वह जिन्दगी भर रंगा रहता है। उसे अन्तिम समय में भी कहा जावे कि भाई, अब तो लोभ को शान्त करो तो भी वह लोभ को शान्त नहीं कर पाता। इस प्रकार का लोभ अनन्तानुबन्धी लोभ कहा गया है।

लेकिन इस व्याख्या के साथ आपको और आगे समझना है। इन उदाहरणों को अन्दर में कैसे बैठाना है ? जैसा पहाड़ की दरार के टूटने के रूप में अनन्तानुबंधी क्रोध का उदाहरण दिया तो अन्दर में क्या टूटा ? किसी को गुस्सा आया और गुस्से की स्थिति में एक दूसरे से अलग हो गया। दिल में दरार पड़ गई। तो वह [illegible]

इसका मतलब है कि उसके साथ मिलना नहीं चाहता। वह मिलना कब चाहता था ? जब वह एक दूसरे के दिल से संयुक्त था ? पर देखने की बात यह है कि दरअसल जबरदस्त क्रोध क्यों आया ? दूसरे का दिल तोड़ने का क्यों प्रयास किया ? क्रोध आने का कारण क्या ? इसका कारण यह है कि अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध मजबूती से हो रहा है जिससे आत्मा स्वयं अपने आप से टूटा। टूटने का तात्पर्य क्या ? आत्मा का सहज स्वभाव शुद्ध के श्रद्धा के साथ चलने का है, वास्तविक स्वरूप की श्रद्धा से चलने का है आत्मा उस स्वभाव को बदलने वाला स्वयं ही बना, यानि उन कर्मों की प्रधानता से आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से दूर हट गया। वह जो अपने स्वभाव से हट गया, जिन्दगी भर तक संभल नहीं पाता। उसके ऊपर पदार्थों का रंग इतनी गहरी मात्रा में चढ़ गया कि वह जिन्दगी भर तक अपनी सच्ची स्थिति को नहीं पाता।

आप जानते हैं कि प्रतिक्रमण जो किया जाता है उसका क्या मतलब ? शब्द है–प्रतिक्रमण। 'क्रमण' यानी बाहर निकल आना। कहां से ? घर से। और प्रतिक्रमणका मतलब है वापिस लौटना–वापस घर आ जाना। आत्मा के स्वरूप को शुद्ध करने के लिए नियम लिया, उस नियम में यह आत्मा न रहकर बाहर चला गया। उसको वापस लौटाना यह प्रतिक्रमण है। यह स्थिति आगे की चौकड़ियों में आयेगी पर जो आत्मा विभाव में चली गई वह वापस घर में आने की स्थिति में नहीं रही तो घर से विच्छेद हो गया।

एक व्यक्ति नशा करके घर से निकल जाता है और जिन्दगी भर घर में प्रवेश नहीं करता है यानि अपने से विभक्त हो गया। उस अपेक्षा से टुकड़ा होना कहा है। अनन्तानुबन्धी क्रोध जीवन की स्थिति को विभक्त करता है। वह दरार एक तरह से चट्टान टूटने के समान कही जा सकती है। समझ लीजिये–किसी इन्सान को लड़ने का अवसर नहीं आया ! यह एकान्त गुफा में बैठा है।, फिर भी उसके अनन्तानुवन्धी क्रोध का उदय रह सकता है। उसने किसी दूसरे से लड़कर दिल के टुकड़े नहीं किये फिर उसके लिए वह उदाहरण कैसे घटेगा ? इसे भी आप समझ लीजिये। क्योंकि उसके अनन्तकाल से

अनन्तानुबन्धी कर्मों के आवरण से वहां भी यह स्थिति हो सकती है। जब वे कर्म उदय में आ जाते हैं तब वह कुछ भी नहीं सोचता। वह अज्ञान अवस्था में रहता है और मिथ्या दर्शन लगा रहता है और जहां मिथ्या दर्शन होता है वहां सम्यग दर्शन नहीं रहता। वह अनन्तानुबन्धी के साथ जोईन्ट हो जाता है जिससे मिथ्या विश्वास की अवस्था रहती है।

शास्त्रीय बातों का जिक्र आ जाने से शायद आप अटपटा सा महसूस करते होंगे। पर इनको भी आप समझें। यह तत्व आपको समझना आवश्यक है।

एक पुरुष साधु बना। साधु की स्थिति चार निक्षेप के साथ होती है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। उसमे नाम और आकृति है। वह साधु बन तो गया पर भाव की दृष्टि से साधुता का उसमें नक्शा नहीं था। इसलिए एकाकी परिभ्रमण करता था। एक रोज एक घर में प्रवेश करता है। उस घर में एक महिला घरेलू काम में लगी हुई थी। वह साधु वहां जाकर खड़ा होता है। भिक्षा मांगता है। उस समय वह बहन भिक्षा देने को तत्पर होती है। वह भिक्षा लेता है और कुछ देर खड़ा रहता है, फिर चलता है। भाव साधु के लिए ऐसा नियम है कि जहां एकाकी बहिन घर में हो उस घर में साधु को भिक्षा ग्रहण नहीं करना चाहिए। प्रथम तो साथ में किसी गृहस्थ को, जो कि दलाली करके घर बता सके, रखना चाहिये। वह साथ में रहे तो कब तक ? घर के किनारे तक। घर के अन्दर परिवार के दो सदस्य हैं तो भी वह दरवाजे पर खड़ा रह जाय, यह नहीं कि घर में वह भी महाराज के साथ अन्दर घुस जाय। वह अन्दर उस हालत में जाय जब कि घर में एकाकी बहिन हो। उस समय संत का भी कर्तव्य है कि दलाल को आगे रखकर जाय। वह दलाल चुपचाप खड़ा रहे, बोले नहीं। अगर कोई जानकार नहीं है तो भले ही उसे विधि बता दे। जानकारी हो तब तो बोलने का प्रश्न ही नहीं। वह यह नहीं कहे यह बहराओ, वह बहराओ। बहन स्वयं कहे कि—श्रावकजी, आप भी हाथ परसिये तो वह मुनि को आहरादि दे, यह अलग बात है। परन्तु जबर्दस्ती बीच में पड़ कर यह न कहे कि—महाराज, मेरा हाथ फरसो।

वह साधु उस बहिन के घर जाता है और भिक्षा लेकर लौट

आता है। वह एक दो रोज नहीं लगातार प्रतिदिन पहुँचने लगा। साधु के लिए यह भी नियम है कि एक ही घर में बार–बार भिक्षा के लिए नहीं जावे। एक घर में एक वक्त चला गया और कदाचित पानी का बर्तन साथ में नहीं कह देता है–बर्तन नहीं है, दुबारा ले जाऊँगा। वह पानी या छाछ लेने के लिए दुबारा जा सकता है। पर भिक्षा के लिए दुबारा नहीं जावे, सुबह भिक्षा ले ली तो दिन भर नहीं जावे। दूसरे रोज नहीं जावें। दो रोज के अन्तर से एक समय उस घर से साधु को आहार ग्रहण करना चाहिये। अगर प्रातःकाल के समय पारणे की दृष्टि से प्रवेश कर जाय और वहां चौथई फुलका भी ले लिया या कोई पदार्थ ले किया तो फिर व्याख्यान उठने के बाद दुपहर या संध्या में उस घर मे आहार के लिए नहीं जावे।

लेकिन वह साधु भावसाधु तो था नहीं। बहन कुछ बहराती है उस समय भाव साधु की स्थिति में यह भी बताया है कि वह अपनी दृष्टि काबू में रखे। वहां साधु की दृष्टि उन पदार्थों पर ही रहे न कि बहिन के शरीर पर। इसका शरीर कैसा है ? अवयव कैसे हैं ? कपड़े कैसे हैं ? इन पर साधु की दृष्टि सौन्दर्य को देखने की भावना से नहीं जानी चाहिये। परन्तु वह साधु भिक्षा लेने उस बहन के घर जाता तो उसके नेत्र बार बार देखता है। बहन को कुछ शक पड़ा। बहन ने धैर्य के साथ एक रोज कह दिया–महाराज, आपके लिये घर तो अनेक हैं। मैंनें सुना है–साधु एक ही घर में प्रतिदिन भिक्षा के लिए नहीं आता। आप बार–बार इस घर में प्रवेश करते हैं, इससे मुझे शंका होती है।

साधु ने कहा–तुमने बहुत दिनों के बाद यह पूछा। पहले ही पूछा होता तो मैं बता देता। मै भोजन के लिए नहीं आता हूँ। मैं तो तुम्हारे नेत्रों के लिए आता हूँ। वह बहन गंभीर थी। उसने सोचा–इसकी दृष्टि चमड़े के नेत्रों पर आसक्त बन गई है। इसे स्वयं का भान नहीं है। उस बहन ने गंभीरता रखी। वह साधु वहां से चला गया। दूसरे रोज फिर आया। उसकी तो वही दृष्टि थी। तब बहन ने देखा–यह नेत्र पर आसक्त है। वह अन्दर जाकर तीक्ष्ण चाकू से दोनों नेत्र निकालकर लाती है और बोलती है–लीजिये। आपको बार–बार एक ही घर मे कष्ट करना पड़ता है। आप इन्हें ग्रहण कीजिये। जब नेत्र

शरीर से अलग देखे तो वह सिर से पैर तक कांप उठा। जो दृष्टि रूप मे आसक्त था उसमें सहसा परिवर्तन आ गया। सोचता है—हा हा ! मैंने यह क्या किया ! मेरे सरीखा पापी नहीं। यह कितनी साहसिक है। इसने शरीर पर जरा भी ममत्व नहीं रखा और मुझे आंखे निकालकर देने लग गई। वह साधु रोने लगा। बोला—देवी ! यह तूने क्या कर डाला ?

बाई बोली—मैं क्या करती ? आपको इसकी भिक्षा चाहिये थी सो तैयार है। उस साधु को उस रोज से शिक्षा मिली, उसकी दृष्टि में परिवर्तन आ गया। सती के साहस से, सतीत्व के प्रभाव से तथा कुछ देवों के प्रसंग से नेत्र ज्यों के त्यों हो गए। वह महिला कितनी दृढ़ थी।

जिसकी दृष्टि पदार्थों की ओर आसक्त बनती है और अत्यधिक गाढ़ बन जाती है वह अनन्तानुबन्धी लोभ में परिणत हो जाती है। उस अनन्तानुबन्धी लोभ के साथ दुनियां भर के छल कपट करके व्यक्ति तृप्ति करने की कोशिश करेगा, प्राप्ति करेगा और अभिमान से फूला नहीं समायेगा। वह इतना ढीठ बन जायगा कि जीवन पर्यन्त नमना उसके लिए शक्य नहीं होगा।

इस प्रकार की वृत्ति रखने वालों का अनन्तानुबन्धी के साथ सम्बन्ध है। पर जहां दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम हो जाता है वहां श्रद्धा आती है। जहां श्रद्धा आ जाती है वहां फिर वह आगे बढ़े बिना नहीं रहता। कई मेरे भाई ऐसा भी सोच लेते हैं कि श्रद्धा में रमण कर लिया तो बस हो गया। फिर आगे कुछ नहीं करना है। ऐसा सोचना भी बहुत बड़ी भूल है। श्रद्धा के साथ चारित्र की स्थिति होती है तो आगे के गुणस्थानों में पाई जाने वाली चौकड़ियों का यानि क्रोध मान माया लोभ का यथा स्थान क्षय क्षयोपशम या उपशम होता रहता है। चौकड़ियां बेकार हो जाती हैं।

जहां सम्यक् श्रद्धान का सद्भाव पहले होता है वहां आगे ऐसा बनता है। दमयन्ती का नक्शा वहां चल रहा था। वे ज्ञानी महात्मा जंगल के बीच में नल आदि परिषद को समझा रहे थे। पर उनमें मुख्य रूप से नल था। नल के माध्यम से बरातियों सैनिकों एवं

के धार्मिक प्रगाढ़ प्रेम का प्रदर्शन हो रहा था। जनता आ आकर उनके दर्शन करती हुई विभिन्न प्रकार की कल्पना करके हर्षविभोर हो रही है। वे नगर में प्रवेश करते हैं।

नगर निवासी सोचने लगे–हमने बहुतेरे दम्पती देखे पर ऐसा जोड़ा आज तक नहीं देखा।

रथ जब राजभवन में प्रवेश करता है। वे उस समय खुले रथ में थे। आजकल की तरह पर्दे का रिवाज उस समय नहीं था। राजभवन में पहुँचने के बाद दमयन्ती ने देखा–मैं सुसराल में आई हूँ तो मुझे आत्मिक खुराक का भोजनालय पहले निश्चित कर लेना चाहिये।

आपके भोजन का कमरा होता है ना ?

होता है।

आत्मिक भोजन का भी कमरा होता होगा ? शायद मेरी बात नहीं समझे होंगे कि आत्मा को भोजन कहां दिया जाता है ? आप बड़े बंगले बना लेंगे, बहुतेरे कमरे बना लेंगे। पर शायद आपका ध्यान इस ओर कम ही जाता है कि आत्मा के भोजन के लिए भी कमरा नियत रहना चाहिये। शास्त्रीय दृष्टि से प्राचीन काल में घरों में पौषधशाला होने का वर्णन है। वह एक अलग ही कमरा होता है जिसके अन्दर सांसारिक कार्य नहीं होते। उसमें आध्यात्मिक जागृति को दृष्टि से आत्मचिन्तन, धर्म की क्रिया और उसका अभ्यास किया जाता था। पर आज शायद आपके घरों में पौषधशाला का वह नक्शा प्रायः नहीं है।

वह दमयन्ती, जिसके अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का क्षय हो चुका था और वह कुछ आगे भी बढ़ चुकी थी, आते ही शयनगृह तलाश नहीं करती है। शयनगृह तो परिवार का हर सदस्य जुटाता ही है। वह सोचती–मुझे पहले आत्मिक खुराक के लिए कमरा चाहिए। इसलिए सासूजी के सामने प्रस्ताव रख देना है। वह जाकर सासूजी के समक्ष प्रस्ताव रखती है। सासूजी ने बहू (दमयन्ती) को एक कमरा दे दिया और कहा–यह तुम्हारी आत्मिक जागृति के लिए स्थान है।

दमयन्ती ने सभी से कह दिया–इस कमरे में कोई गन्दा कार्य नहीं होना चाहिये। अब उसने सोचा–मैं इस परिवार में आ चुकी हूं तो

मेरा बर्ताव किसी के लिए बुरा न हो। मैं सभी के साथ समभाव का बर्ताव करूं। उसने सभी नौकर-दासी से घर के सदस्यों जैसा बर्ताव किया और अपने समभावी मृदु व्यवहार से सभी के मन को मोह लिया। अब सारे परिवार के सदस्य उसके इर्द गिर्द घूमने लगे। मानो राजा नाम के राजा थे, राज्य इसका था। भावात्मक दृष्टि से आज्ञा का संचार उसके वहां से होता था। सुगन्ध कहीं पर भी क्यों न हो, वह फैले बिना नहीं रहती। उसके सद्गुणों की महक सभी ओर फैलने लगी। लोग उसके सद्गुणों से आकर्षित और प्रभावित हो होकर दर्शन करने आते। दमयन्ती के गुणों के कारण नल की भी कीमत बढ़ गई। सारे देश में नल-दमयन्ती की महिमा होने लगी।

यह कथा भाग का वर्णन है। यह वर्णन तो पात्रों के अनुरूप है। आप इस कथा भाग को जीवन में लाने की चेष्टा करें। सांसारिक दृश्य तो आप जीवन में लाते हैं-पर किस ढंग से ? श्रद्धा की स्थिति एवं हेय-ज्ञेय उपादेय की जानकारी होनी चाहिये, यह आपको दमयन्ती के जीवन से सीखना है। वह धर्म-आराधना करने बैठी। आप भी धर्म की आराधना करने के लिए तत्पर हैं। शारदासंघ के भाई सोहनलालजी आये। उन्होंने आते ही तेला अंगीकार कर लिया। शारदासंघ वाले कल भी कुछ बोले थे। उनकी भावना मैं समझ रहा था। मेरा उधर जाने का प्रसंग आया। उनकी भावना किस ढंग की है वह भी सामने आई। बहुतेरे गांवों के भाई-बहन जीवन का परिमार्जन करने के लिए तत्पर हैं। आप सभी शक्ति के अनुसार इस मानव-जीवन मे सही ज्ञान दर्शन चारित्र के साथ सुगुरु सुदेव सुधर्म को समझ के अपने अन्तःकारण से आगे बढ़ने का प्रयास करेंगे तो आपका जीवन मंगलमय बनता जायगा। घाती कर्म की डूंगरियें, जो आत्मा पर आच्छादित हैं, हटती जाएँगी। इसी प्रकार उन चौकड़ियों का क्षयोपशमादि करते हुए चरण-विकास की ओर आगे बढ़ सकेंगे।

इसी भावना के साथ

✿✿✿✿✿

आत्म-अर्पण

सुमति चरण रज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी,
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी।। 1 ।।
त्रिविध सकल तनुधर गत आतम, बहिरातम धुरि भेद सुज्ञानी,
बीजो अन्तरआतम तीसरो, परमातम अविच्छेद सुज्ञानी।। 2 ।।

ये भगवान् सुमतिनाथ की प्रार्थना की कड़ियां हैं। प्रभु के अनेकानेक नामों में से एक सुमतिनाथ नाम है। उनकी स्तुति के प्रसंग से कवि की भावना है कि सुमतिनाथ भगवान के चरणों में मैं अपनी आत्मा की अर्पणा करूं। क्यों कि प्रभु के चरणों में जब तक अर्पण नहीं होगा, तब तक उसे वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं होगी। इसलिए कवि अपनी अभिलाषा को कार्य रूप में परिणत करने के लिए अर्पण करना चाहता है।

इस कविता की कड़ी का उच्चारण आपके सामने भी रख दिया। कविता कब कैसे उद्धेश्य से बनी, वह कवि की भावना के ऊपर निर्भर है। पर आज का प्रसंग आप लोगों की भावना पर अवलम्बित है। आपके सामने सामूहिक रूप से उच्चारण होता है वह भी एक दृष्टि से प्रार्थना रूप में समर्पण करने की भावना से उच्चारण का प्रसंग आता है। आप सोचते होंगे महाराज के साथ हम भी इस प्रस्ताव में सम्मिलित हुए हैं। प्रस्ताव कवि की भाषा में है। उच्चारण मेरी जिह्वा ने किया है और साथ ही आपने भी सहयोग दिया। तो क्या मैं यह पूछ लूं कि आप भी अपनी आत्मा की अर्पणा प्रभु के चरणों

में रखना चाहते हैं ? आप बोलने में संकोच पाते हैं। कविता की कड़ी के साथ बोलें जिससे कि मैं समझूं आप भी सहमत हो रहे हैं ?

सुमति चरणरज आतम अर्पणा।

कुछ लोग कुछ तो बोले हैं। पर कुछ संकोच कर गये हैं। कौन जाने महाराज क्या कहना चाहते हैं ? मैं जो कहना चाहता हूँ वहीं तो कह रहा हूँ। आप सोचते हैं प्रभु के चरणों में आत्म–अर्पण किस रूप में हो ? इसके लिए पहले प्रभु के चरणों को समझना होगा, तब अर्पण का सवाल आयेगा।

तो सबसे पहले आप स्वयं को संभालें, आत्मा को संभालें। आपकी आत्मा कहां है ? आप जिसकी समर्पण करना चाहते हैं, जिस वस्तु को किसी के चरणों में उंडेलना चाहते हैं उस वस्तु को पहले देख तो लें। मुख्य प्रश्न यह है कि पहले अपने को समझ लें। आज का मानव वर्तमान के सब विषयों में घुलमिल रहा है और इतना घुममिल रहा है कि उसे अपना कुछ भान नहीं है। कई भाइयों को यह पता नहीं कि वे कौन हैं ? कहां से आये ? और कहां जायेंगे ? अगर पता है तो बतलाइये। मैं क्या कहूँ, भगवान् महावीर ने लगभग 2500 वर्ष पूर्व घोषणा की और उसका अनुवाद सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के सामने रखा।

सुयँ मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं–इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ।।1।। पुरत्थिमाओ व दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणोओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहो दिसाओ वा आगेओ अहमिंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं णो णायं भवइ।। 2 ।।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मान शिष्य ! मैंने सुना है, उन भगवान् महावीर स्वामी ने इस प्रकार फरमाया था कि इस लोक में किन्हीं प्राणियों को संज्ञा नहीं होती है, जैसे कि–पूर्व दिशा से मैं आया हूं, अथवा दक्षिण दिशा से मैं आया हूँ, अथवा पश्चिम दिशा से मैं आया हूँ, अथवा उत्तर दिशा

से आया हूँ, अथवा ऊँची दिशा से मैं आया हूँ, अथवा नीची दिशा से आया हूँ, अथवा किसी एक दिशा से आया हूँ, अथवा अनुदिशा से मैं आया हूँ। इस प्रकार किन्हीं जीवों को ज्ञात नहीं होता है।

इस प्रकार कइयों को संज्ञा नहीं होती, संज्ञा का मतलब विशिष्ट चेतना—अपने आप की शक्ति का भान कइयों को नहीं होता।

संकेत किया है कि आत्मा सोच नहीं पाता कि मैं कहां से आया हूँ ? ऐसी संज्ञा उसमे नहीं होती हैं। 'नहीं होती' ऐसा भगवान ने नहीं कह कर 'नो भवई' ऐसा कहा है। तो यहां पर 'नो' का अर्थ अर्द्ध निषेध से लेना चाहिये। शिष्य प्रश्न करता है कि भगवन् 'न' शब्द का प्रयोग नहीं करके नो शब्द का प्रयोग क्यों किया ? यही कह देते कि संज्ञा नहीं होती। इसक बदले 'नो संज्ञा भवइ' ऐसा क्यों कहां ? तो शास्त्रकार कहते हैं—वहां 'नो' लगाना आवश्यक था। संज्ञा बिलकुल ही नहीं होती, यह बात नहीं है। संज्ञा होती तो है पर उससे शान्ति का संचार नहीं होता बल्कि अशान्ति होती है। संज्ञाएं कई प्रकार की बताई गई हैं। उनमें से एक आहार की संज्ञा भी होती है। कहीं किसी भी अवस्था में आत्मा क्यो न हो, वह अपने भोजन को भूलता है क्या ? आहार की संज्ञा समय पर होती रहती है। चाहे वह आत्मा गर्भ में भी क्यों न हो, वहां पर भी आहार की संज्ञा है। वह माता की रसहरणी नाड़ी से रस ग्रहण करता है। उस अन्दर की स्थिति का तो सबको पता नहीं लगता, फिर भी बाहर आने के बाद तो आहार को प्रत्येक आत्मा समझता है और उसकी आवश्कता को अनुभव करता है।

आप देखते हैं—बच्चा माता की कोख से बाहर आता है। कुछ ही क्षण के पश्चात चाँ चू करता है। किसके लिए ? आहार संज्ञा व्यक्त करने के लिए कि मुझे भूख लगी है। वह स्पष्ट शब्दों में तो नहीं बोल सकता, पर वह अपने रोने की भाषा में बोल रहा है। माता भी उसके संकेत को समझ कर झट से स्तनपान कराती है और उसकी आहारसंज्ञा की पूर्ति होती है। यह ज्ञान उसमें होता है।

कुछ बड़ा हुआ तो आहारसंज्ञा के साथ भयसंज्ञा भी आ जाती है। वह इसी जन्म की नहीं, अन्य अनेक जन्मों के भय की संज्ञा रहती है। संज्ञा का मतलब अन्तरभावना या अनुभूति। वह और बड़ा होता है

तो विषयभोग और परिग्रह की संज्ञाएँ बढ़ जाती है। ये संज्ञाएँ आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्धित हैं इसलिए बाह्य पदार्थों की भावना से अधिकांश प्राणी उनको ग्रहण करने की अभिलाषा रखते हैं। ये संज्ञाएं सभी संसारी जीवों में होती है। क्रोध–मान–माया लोभ की संज्ञा के साथ एक लोकसंज्ञा और एक ओघसंज्ञा भी है। कभी कभी अभ्यास के कारण भी ओघसंज्ञा बन जाती है। रोजाना कार्य करते करते वह स्वभाव बन जाता है। भोजन का अभ्यास प्रतिदिन रोजाना का है तो कभी अपवास पच्चखने के बाद भी भोजन के समय रसोई घर में पहुँच जाते हैं और कभी कभी तो ऐसा भी सुनने में आया है भूल से जीमने भी बैठ जाते हैं, जीम लेते हैं। यह ओघसंज्ञा है। इस प्रकार की संज्ञाएं तो न्यूनाधिक रूप में प्रायः पाई जाती है। पर जो विशिष्ट संज्ञा होनी चाहिये वह नहीं हो पाती। इसलिए यहां 'नो' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'नो' का अर्थ होता है आधा निषेध [illegible] स्वाभाविक संज्ञाएं है उनका निषेध न कर जो विशिष्ट [illegible] हैं उनको 'नो' शब्द से नहीं होना बतलाया है। जबकि [illegible] होनी चाहिये। वास्तविक ज्ञान होना चाहिये कि [illegible] आया ? अर्थात् कहां से आया, कहां जाऊंगा ? [illegible] नहीं होता तो अपने आपको समझने की योग्यता [illegible] भान नहीं वह भगवान के चरणों में कैसे [illegible] ?

यदि भगवान के चरणों में अर्पण [illegible] के चरण कैसे हैं यह पहले समझिये। [illegible] चरणों जैसे नहीं हैं। उनके चरण [illegible]

सुमति चरण [illegible]
दर्पण जैन [illegible]

दर्पण के अन्दर रहेगी ? कभी विचार किया है ? यदि आप कहें कि हमारी आकृति हमारे पास ही है तो दर्पण में कुछ नहीं देखेगें। यदि दर्पण में देख रहे हैं तो आपके पास आकृति कैसे रही ? दर्पण में प्रतिबिम्बित आकृति और आपके पास की आकृति एक है या अलग है ? दर्पण स्वच्छ होने के नाते आपकी आकृति का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है और आप जान लेते हैं कि मेरी आकृति कैसे है। वह जानना कब होगा ? जब दर्पण प्रतिबिम्ब ग्रहण करेगा, या दर्पण के सामने आप खड़े होंगे तभी आकृति को जानेगें।

यद्यपि यह तो एक छाया प्रतिछाया का नक्शा है। पर इस रूप से आप आत्मा की आकृति को ठीक समझ कर प्रभु के चरणों में अर्पण करने की सोचेंगे और प्रभु के चरणों की छाया में अपना प्रतिबिम्ब देख लेगें तो अपको ज्ञात होगा कि प्रभु के चरण कांच से भी अत्यधिक निर्मल हैं। पर वे स्वयं शरीर पिण्ड में नहीं है उनके वर्ण, रस, स्पर्श आदि नहीं हैं वे चरण क्या हैं ? दर्शन चारित्र चरण हैं। चरण दो होते हैं ऐसे ही प्रभु के भी दो चरण बताये हैं–

सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव

श्रुतधर्म और चारित्रधर्म ये दो चरण अत्यधिक निर्मल हैं। स्फटिक मणि के समान स्वच्छ हैं। श्रुत और चारित्र धर्म इस प्रकार की स्थिति से रहते हैं कि कोई आत्मा अपने स्वरूप को समझ कर उनके लिए अर्पण कर देता है तो वह अनन्त सुख, दिव्य शान्ति पा सकता है। फिर वह वास्तविक सुख शान्ति उससे दूर नहीं रहेगी, उसके पास हाजिर हो जाती है।

वह आत्मा की अर्पणा कितनी जरूरी है उसे समझने की आवश्यकता है। आप इसे सहज ही समझ कर तृप्ति करना चाहेंगे तो जितनी चाहेंगे उतनी सफलता नहीं मिल पायेगी, क्यों कि आप अर्पणा को जितनी सहज समझ रहे हैं उतनी यह सहज नहीं है। मैं श्रुत और चारित्र धर्म का उल्लेख कर रहा हूं। वह उज्जवल मार्ग है। आत्मा का निज गुण है और यही निज गुण पूर्ण शुद्धीकरण की अवस्था में प्रकट होता है तो सिद्ध अवस्था तक पहुँचा सकता है। जब तक वह पूर्ण अवस्था प्रकट नहीं होती तब तक आंशिक रूप में भी पालन करना

चाहिये। जितना–जितना पालन किया जाता है उतनी–उतनी अर्पणा होती है। मनुष्य की श्रुत चारित्र रूप धर्म में जितनी–जितनी अर्पणा होती है उतना–उतना ही उसका प्रतिबिम्ब भासित होता है। पूर्ण अर्पणा हो जाने के पश्चात् अनन्त शक्ति स्वरूप जो आत्मा है इसमें सर्व सुख की शक्ति व्यक्त हो जायगी। इस स्थिति को प्रबल बनाने के लिए सोचना है। जम्बू स्वामी को सुधर्मा स्वामी ने कहा–कि किसी–किसी को संज्ञा नहीं होती। उसमें कहा–किसी किसी को नही होती, पर किसी–किसी को होती भी है। जिनको होती है वे फिर पीछे नहीं रहते।

जम्बू कुमार को विशिष्ट संज्ञा हो गई। आहारादि का संज्ञा तो थी ही। भोजन करना, संसार की पैदायश करना, भवभ्रान्त होना, लोभ–लालच करना, छल–कपट करना इत्यादि तो संसारी जीव प्रायः करते ही हैं। वहां आत्मा की अर्पणा का नक्शा नहीं आ सकता। इससे वास्तविक सुख–शान्ति नहीं मिल सकती। मनुष्य आहार किस भावना से करता है ? आहार करूंगा तो मुझे सुख शान्ति मिलेगी। यदि यही बात है तो उसकी परीक्षा भी आपके पास है। एक व्यक्ति भोजन करेगा और एक वक्त करेगा तो उसे सुख शान्ति मिलेगी और दो वक्त करेगा तो अधिक सुख शान्ति मिलेगी ? चार पांच छः वक्त करे तो क्या होगा ? उसे तो अधिक सुख शान्ति मिलनी चाहिये। वह दिन भर खाता ही रहे उसे सुख शान्ति मिलेगी ? अगर वास्तविक सुख शान्ति का प्रसंग इससे आता, तो वह दिन भर खाता ही रहता।

आप जामाता बनकर सुसराल गये होगे ?

आप तो हंस देते हैं ! देखते हैं महाराज कैसे भद्रिक बन रहे हैं। लेकिन मैं भद्रिक बन रहा हूँ तो हर्ज की बात नहीं है। वहां आप जीमने बैठे और पांच पकवान आपके सामने आ गये। आपने पेट भरकर जीम लिया। फिर सासूजी या और कोई पांच पकवान जबरदस्ती खिलाना चाहे–आपका हाथ पकड़ कर खिलाना चाहे तो आप क्या बोलेगें ? ओ साहब ! अब दुःख मत दो।

अरे भाई, जब खाने में सुख था तो दुख कहां से आया ? उन लोगों ने उसी में सुख समझ रखा है। इसलिए जंवाईजी को अधिक

खिला रहे हैं। पर यह नहीं सोच रहे हैं कि हम इनका अहित कर रहे हैं, पड़ौसी का अहित कर रहे हैं। क्या यह विकारी संज्ञा नहीं है ? कहना होगा उनको आत्मा के स्वरूप का भान नहीं है। भगवान् के चरणों का खयाल नहीं है। इसलिए तो ऐसा चल रहा है। आप नहीं जान रहे हैं कि जंवाई जी को अधिक ठूंस ठूंस कर खिलाने से उनकी जठराग्नि खराब हो जायगी, उनका स्वास्थ्य बिगड़ जायगा, दिमाग खराब होगा और तामसिक वृत्ति बनी तो जीवन विकारी वृत्तियों को प्रश्रय देने लग जायगा। फिर आप डाक्टरों को पास दौड़गें। बढ़िया से बढ़िया दवाई की मांग करेगें। आप ऐसा तो कर लेगें, पर भगवान् के चरणों में अपनी अर्पण के लिए तत्पर नहीं हो पायेंगे।

चरित्र धर्म के दो भेद हैं जिसमे आचरण और तप बताया है। अगर आप तप के चरण में जवाईजी को अर्पण कर दें तो कुछ शान्ति मिल जायगी। आप उस रोज उन्हें उपवास करादें। पर उपवास नहीं करायेगें। आप तो उल्टा कहेंगे–नहीं साहब, आपको तो जीमना ही पड़ेगा। अगर नहीं भायेगा तो चूर्ण चटनी खिलायेगें। वास्तविक संज्ञा नहीं होने के कारण जीवन बेकार हो जाता है। वहां स्वयं का नुकसान होता ही है पर साथ ही साथ संसार के पदार्थों की भी व्यर्थ में बर्बादी होती है। अधिक खाना और अधिक खिलाना यह भी एक तरफ से अन्याय की वृत्ति का कार्य है। शास्त्रकारों ने सूक्ष्म व्याख्या करते हुए यहां तक कह दिया कि यह एक तरह से चोरी है। जिन पदार्थों को आप श्रम से पैदा नहीं कर सकते, उनको बिगाड़ने का आपको क्या अधिकार है ?

आवश्यक वस्तु लेना, हक का लेना दूसरी बात है, पर ठूंस कर भरना और फिर बीमार होकर सम्पत्ति का अपव्यय करना यह क्या है ? उधर पड़ोस में बिचारा गरीब आदमी भूख से तिलमिला रहा है, छटपटा रहा है। क्या आप जवांईजी को ठूंसना कम करके पड़ौसी में रहने वाले गरीब आदमी का खयाल रखेगें ? शायद उसकी तरफ आपका ध्यान तक नहीं जायगा। बिचारा रोता हुआ याचना करेगा भी तो आप डांटेगें कि हमारे घर तो जंवाईजी आये हुए हैं क्यों हल्ला

मचा रहा है ! उसे आप अंटसंट बोल जायेगें। यह संसार की संज्ञा मानव को कहां और किस ओर ले जा रही है ? इसका प्रायः मानव को भान नहीं। वह इधर उधर भटक रहा है मृगतृष्णा में जल समझने वाले मृग की तरह दौड़ लगा रहा है।

मृगतृष्णा जानते हैं ? जंगल का पशु , वह भद्रिक हिरण ! उसे ज्यादा विवेक नहीं होता। प्यास भी आहार संज्ञा के अन्तर्गत है। उससे पीड़ित होकर हिरण सब चीजों को भूलकर दृष्टि डालता है। उसे सूर्य की गर्मी के कारण जंगल में बहुतेरा पानी नजर आता है। वह सोचता है चलूं वहां जाकर पानी ले लूं ? वह ताकत लगाकर भागता है पहले से ही पानी की प्यास है। और दौड़ने से फिर पसीना आ जाता है। वह वहां जाकर देखता है, पानी नहीं मिलता उसके पानी की संज्ञा समाप्त नहीं हुई। वहां से फिर पीछे मुड़कर देखता है उसे पानी, उसी जगह, जहां से भागा था, सूर्य की किरणों के कारण नजर आता है वह फिर लौटकर भागता है। हैरान हो जाता है पर उसकी प्यास बुझती नहीं। उसे सुख शान्ति नहीं मिल पाती।

आज के मानव–समुदाय की भी एक दृष्टि से यही दशा बन रही है, ऐसा कह दूं तो क्या गलत होगा ? मानव की प्यास कौनसी है ? वह तृष्णा की प्यास है। रात–दिन मनुष्य उसमें घुल रहा है ? अगर देखा जाय तो इस हालत में उसे न आत्मा का ही ज्ञान है और न प्रभु के चरणों का खयाल है ! ऐसे प्राणियों की बड़ी दयनीय दशा होती है यह संसार में पाप बढ़ाने की स्थिति है।

बन्धुओं ! मैं क्या बताऊं ? यह तृष्णा आत्मा का भान भुलाने वाली है। तृष्णा से ग्रस्त मनुष्य न्याय–नीति की तरफ भान नहीं रख पाता संसार के पदार्थो की तरफ आसक्ति भावना को लेकर चलता है। वह प्रभु के चरणों में अर्पणा क्या कर सकेगा ? मानव को तो हर क्षण यही सोचना चाहिये कि मेरा जीवन मंगलमय कैसे बने ?

महाराजा नल जीवन को मंगलमय बनाने की भावना को लेकर चलने लगे। उन्होंने आत्मा की अर्पणा कुछ प्रभु के चरणों में रख दी थी, पर उससे पीछे हटाने वाले महाशय भी पहुँच गये। उस दुष्टमति ने, जिसके मन में मृगतृष्णा के समान संसार के पदार्थों की

लालसा थी, सोचा मैं पैसा लेकर कुबेर राजकुमार का इलाज कर दूं। कुबेर शरीर से तो बीमार था नहीं, मानसिक दृष्टि से बीमार था। उसका रोग असाध्य रूप में परिणत होता जा रहा था। उसके मन में परिग्रह संज्ञा इतनी प्रबल हो गई कि वह स्वयं अपने आप को भूल गया, अपने बड़े भ्राता को भूल गया। सोचने लगा—बड़े भैया के पास कैसा सुख है ! कितनी संपत्ति है ? कितना मान सम्मान है ? मुझे भी वह मिले। इस भावना से वह सोच रहा था।

भावना को कार्यान्वित करने के लिए कुबेर को एक मित्र सहायक मिल गया। वह दुष्टमति नल के पास भक्त बनकर रह रहा था। वह एक रोज नल को जंगल में ले गया। वहां ले जाकर उनको आराम पहुंचाया। जब उनको प्यास लगी तो वह पानी लाने गया। कुछ दूर जाकर देखा तो एक झरना बह रहा था। वहां उसने पत्ते लिए। उनमें पानी भरकर लाया और महाराज को पिलाया। उससे महाराजा को वड़ी शान्ति मिली। फिर महाराजा की भूख की संज्ञा जागृत हुई तो उसने जंगल में से मधुर फल लाकर महाराज को खिलाये। महाराजा को उससे बड़ा सन्तोष हुआ। महाराजा ने देखा यह मेरा कितना परम हितैषी है जो ऐसी भयंकर स्थिति में तन–मन से सेवा कर रहा है। दुष्टमति अपनी कूटनीति के अनुसार कुछ नशे के पदार्थ भी साथ लाया था उसने वे भी दिए। महाराजा ने ले लिये और विश्रान्ति की।

ऐसी स्थिति में नल महाराज को उसने शान्ति दी। अव नल महाराज का विश्वास और अधिक वढ़ गया कि यह तो मेरा अत्यधिक हित सोचने वाला है, मददगार है इसे अव छोड़ना नहीं चाहिये।

अव वहां से चलना था—राजधानी में। तो महाराजा ने कहा—अव क्या करना ? वह वोला—महाराज आप फ्रिक मत करिये। अभी अपन राजधानी के लिए चल देते हैं। ऐसा कह वह उनको लेकर राजधानी पहुँचता है। राजधानी पहुँचने पर महाराजा नल को सूचना मिली कि आपका अधीनस्थ तक्षशिला का राजा आपकी आज्ञा स्वीकार करने में तत्पर नहीं हो रहा है। उसका कहना है कि जव तक महाराजा नैषध नरेश था तब तक तो मैं उनके साथ सम्बन्धित था, पर महाराजा ने

सारा राज्य का भार नल को सौंप दिया। नल राजकुमार मुझ से छोटे हैं, कम बुद्धिशाली है, विवेकवान भी नहीं हैं। मैं उनकी आज्ञा कैसे मान सकता हूँ ? मैं स्वतंत्र हूँ। वह इस प्रकार का प्रचार कर रहा था। नल महाराजा ने यह बात सुनी तो अपने विश्वासपात्र मित्र से परामर्श किया। नल महाराजा स्वयं भी विचार कर रहे थे।

यद्यपि नल ने राज्य की सीमा काफी बढ़ाई। जब से दमयन्ती यहां आई तब से राज्य में वृद्धि हुई वह पुण्यवान आत्मा थी। नल सोच रहा है कि आधे भारत में मेरा राज्य है और तक्षशिला का राजा मेरे आधिपत्य को मानना नहीं चाहता। यह शक्य नहीं, मेरे हक में वह राज्य आ गया है तो मेरा ही आदेश चलना चाहिये।

एक तरफ तक्षशिला का राजा कदम्ब था। वह सोचता मेरी स्वतंत्रता सुरक्षित रहे। दूसरी और नल सोच रहा था कि वह मेरे अधीन रहे। दुष्टमति ने कहा–महाराज, आप राजाधिराज राजा हैं। अगर उसे आप वश में नहीं करेंगे तो कौन करेगा ? आपको तो उसे वश में करना ही चाहिये और युवराज पद पर जो कुबेर राजकुमार है वह तो बहुत डरपोक है, बुजदिल है, कायर है। आप युवराज पदवी भी अपनी सन्तान को सम्भला दीजिये। कुबेर इसके लिए योग्य नहीं। दुष्टमति इस प्रकार की भावना रख रहा था। उसके मन में कुछ और ही भावना चल रही कि मैं महाराज के मन में विश्वास अधिक कायम कर सकूं। वह दुष्टमति नल की प्रशंसा और कुबेर की निन्दा कर रहा था। आप इस नीति को क्या संज्ञा देंगे ? ऐसा करने वाले को आज की दुनियां होशियार कहती है। समझती है यह चलता पुर्जा है। लेकिन जीवन की दृष्टि से यह बहुत ही पतन का रास्ता है। कूटनीति है, राजनीति नहीं। जब षडयंत्र की रीति से नल के सामने दुष्टमति ने यह बात रखी तो नल नरेश को उस पर और अधिक विश्वास हुआ। उसने सोचा कि यह मेरा कितना हितैषी है जो कुबेर को युवराज पद से भी हटना चाहता है और मेरे पुत्र को राज्य दिलाना चाहता है। यह तो मेरा अत्यन्त विश्वासपात्र है।

दुष्टमति की कोशिश से नल की अधिकार लिप्सा बढ़ गई। सत्संगति का संयोग अब उन्हें नहीं मिल रहा था। दमयन्ती की शिक्षा

भी वे कम सुन रहे थे और दुष्टमति को ही सब कुछ मानकर चल रहे थे।

उसके कथन के उत्तर में कहा–दोस्त मैं अभी दूत भेजता हूँ।

ऐसा विचार कर वे होशियार दूत को रवाना करते हैं। दूत तक्षशिला पहुँचा और वहां के महाराजा को नल महाराज का परवाना दिया।

प्राचीन काल का तरीका था कि परवाना हाथ में लेकर नहीं पहुँचते उसे भाले की नोक पर रखकर दूर से ही दिया जाता था। तक्षशिला महाराज को नल महाराज का परवाना सभा में दिया गया। कदम्बक महाराज स्वयं अभिमान से परिपूर्ण थे। सत्ता और सम्पत्ति का नशा था। इसलिए कह दिया–जाओ तुम्हारे स्वामी को कह देना कि मैं उनकी आज्ञा मानना नहीं चाहता। यदि मनवानी है तो पहले अपनी शक्ति की आजमाइश मेरे साथ करें। यदि नल जीत जाते हैं तो मैं नतमस्तक होकर उनकी आज्ञा मानने को तत्पर हूँ और मैं जीत जाता हूँ तो आधे भारत के राज्य की शक्ति मेरे चरणों में रखनी होगी। यदि मेरी शर्त स्वीकार न करें तो चुपचाप बैठ जांय। मुझे आज्ञा मनवाने का कष्ट न करें। उसने बड़े गर्व के साथ इस प्रकार कहा।

वह दूत लौट कर आता है और नल महाराज को तक्षशिला नरेश का उत्तर सुनाता है। नल महाराजा को भी जोश आ गया कि वह इस प्रकार मेरी आज्ञा की अवहेलना करता है ! दुष्टमति ने भी नल महाराज को समझा दिया कि तक्षशिला के राजा की यह उद्दण्डता शान्त करनी चाहिये। नल महाराज ने मंत्री को आदेश दिया–सेना तैयार करो। मंत्री सेनापतियों को कह कर सेना तैयार करवाता है।

महाराज नल सेना लेकर तक्षशिला की राजधानी के नजदीक पहुंच गये। उन्होंने पुनः संदेश भेजा कि अब भी मेरी आज्ञा प्रसन्नता पूर्वक मानना चाहते हो तो ठीक, नहीं तो मैं लड़ने आ गया हूँ। तक्षशिला का राजा भी सैन्य शक्ति के अभिमान के साथ मैदान में आकर डट जाता है। आपस में लड़ने भिड़ने की स्थिति बन रही है।

उस समय नल के अन्तर–मानस में रह हुए, संस्कार कुछ

जागृत हुए। उसके वचपन के कुछ संस्कार जमे हुए थे। नल के वचपन में धार्मिक संस्कार थे। तरुणाई में भी अच्छे संस्कारों का पोषण हुआ था। पर इन दिनों दुष्टमति के संसर्ग के कारण उसमें कुछ कुव्यसन आ गये थे जिससे वर्तमान में वैसे संस्कार नहीं रह पाये जैसे वचपन में थे। पर वचपन के संस्कारों के कारण उसमें अकस्मात् कुछ अच्छी भावना जागृत हुई। सोचा–मुझे कदम्बक से आज्ञा मनवानी है और उसको माननी है यह तो हम दोनों के बीच की बात है। ऐसी स्थिति में, हमारी अहंवृत्ति की तृप्ति के लिए हजारों बेचारे निरपराधियों का खून खराबा हो यह कैसी बात है ? यह श्रेयस्कर नहीं होगा। यह भूमि किसी की न तो हुई और न होगी। राजाओं ने घोर संग्राम की स्थिति उपस्थित की, पर हुआ क्या ? वे बड़े–बड़े चले गए और यह जमीन यहीं की यहीं रह गई।

इस प्रकार की भावना नल के मन में पैदा हुई। वे अपनी भावना को कार्य रूप में परिणत करने की रहे सोच थे।

उसी समय दूसरा विचार आया युद्धभूमि छोड़कर हट जाना भी योग्य नहीं, यह बहुत बड़ी कायरता होगी। लोग कहेंगे कि कदम्बक महाराजा की सेना देखकर नल डर कर भाग गया ! मैं अपनी धार्मिक वृत्ति के साथ चल रहा हूं, इसे कौन समझेगा ? अव क्या करना चाहिये ? अव तो कोई ऐसा ही उपाय करना चाहिये जिससे कि जनता की रक्षा भी हो जाय और अपकीत्ति से भी वचा जा सके।

अभी तक नल पर दुष्ट मति का पूरा असर नहीं हुआ था। यह मानवता की स्थिति उनके मन में आ रही थी।

प्राचीन काल में युद्ध भी होते थे तो नीति के साथ होते थे। युद्ध के स्थल पर भी जव तक युद्ध प्रारम्भ नहीं होता, युद्ध की घोषणा नहीं होती, तव तक शत्रु सैनिक भी परस्पर एक दूसरे से मिलते रहते थे। नल महाराज ने सोचा–कदम्वक से विना शस्त्र लडा जावे। यह कार्य हम दोनों के वीच का है। नल महाराज ने एक प्रस्ताव रखने की सोची कि दोनों के वीच की लडाई है तो दोनों विना शस्त्र के लड़ लें। ऐसा सोचकर नल महाराज ने यह सूचना कदम्वक महाराज को

करवाई। कदम्बक ने सोचा मेरा सैन्य बल देखकर नल समझौता करना चाहता है।

कदम्बक महाराज भी किनारे पर आ जाते हैं–हां महाराज आपकी बात ठीक है।

नल महाराज ने कहा–देखो भाई, तुमने मेरी आज्ञा की अवहेलना की। मैं नीति के साथ कार्यवाही करने के लिए तत्पर हूँ। मैं तुम्हारी सैन्य शक्ति को देखकर पीछे हटने वाला नहीं हूँ। तुम या तो मेरी आज्ञा मान लो, नहीं तो हम दोनों लड़ लें। जो जीत जाय, उसी का राज्य। कदम्बक महाराज ने कहा–मैं आज्ञा मानने को तैयार नहीं, पर आपकी दूसरी शर्त मानने को तैयार हूँ।

कदम्बक सोच रहे थे कि मैं नल से अधिक शक्तिशाली हूँ, इसलिए उन्हें पछाड़ दूंगा। मेरा आधे भारत पर राज्य हो जायगा।

दोनों ने अपने–अपने सेनापतियों से कहा–सेनाएं दूर हटा दो। हम दोनों के बीच में युद्ध होगा।

नल महाराज कहने लगे–युद्ध की बात मैं स्वीकार करता हूँ पर पहले अहिंसक युद्ध करना है अपने बीच हिंसा का भी युद्ध नहीं होना चाहिये। पहले एक दूसरे पर प्रहार नहीं करे। कदम्बक महाराज ने देखा अब ये गिड़गिड़ा रहे हैं। कदम्बक महाराज मन में इस प्रकार की भावना ला रहे थे कि नल पीछे हट रहा है। पर नल महाराज कायर नहीं थे। उनके मन मे भावना थी कि हिंसा जहां तक बन सके नहीं करनी है। इस भावना से वे चल रहे थे। कदम्बक ने वह बात भी स्वीकार की। कहा–महाराज, आप कहते हैं तो पहले अहिंसक युद्ध ही लड़ लेते हैं।

अहिंसक युद्ध क्या ? दोनों दृष्टि बांधकर खड़े हो जांय। जिसकी पहले पलक गिर जाय या आंखों में पानी आ जाय वह हारा। जिसके पलक न गिरे वह जीता। उसने नल महाराजा का प्रस्ताव स्वीकार किया और दोनों खड़े हो गये। नल महाराजा का प्रारम्भिक जीवन धार्मिक श्रद्धा का था, मर्यादित जीवन था। वे डटकर खड़े हो गये। कुछ क्षण तक तो कदम्बक राजा टिका रहा फिर उसकी आंखों से पानी पड़ता है। नल महाराजा ने कहा–हो गया युद्ध। तुम अब भी

मान जाओ।

पर वह ऐसे कब मानने वाला था ? बोला—ऐसे कैसे हार जीत का पता लगे ? नल महाराजा ने कहा—अच्छा आप अपनी भुजा खड़ी करिये मैं झुकाता हूँ। फिर मैं अपनी भुजा खड़ी करूं तो आप झुका दीजिये। कदम्बक ने देखा यह ठीक है। इसलिए कह दिया—मुझे मंजूर है।

कदम्बक महाराज ने भुजा ऊँची की। नल महाराज ने चींट्टी उंगली पकड़कर कमल नाल की तरह उसे झुका दिया। कदम्बक ने सोचा—क्या हो गया ! मैं भी झुका दूंगा अब नल महाराज ने अपनी भुजा ऊपर उठाई। उसने बहुत कोशिश की, पर भुजा नहीं झुकी। जब वह दोनों हाथों से खींचने लगा तो लटक गया। नल महाराज ने कहा—तुम्हारी शक्ति कमजोर है।

कदम्बक महाराज ने सोचा—मैं सत्ता, सम्पत्ति और परिग्रह में लिप्त रहते—रहते आत्मशक्ति से कमजोर रहा हूँ। अब मुझे वह कमजोरी समाप्त करनी है। मैं इन महाराजा से जीतने वाला नहीं हूँ।

ऐसा विचार कर वह नल महाराजा ने नेत्रों से छिपकर एक तरफ भागता है और वहां जाकर साधु का वेष पहनकर एक वृक्ष के नीचे बैठ जाता है उधर नल महाराज सोचने लगे—यह क्या तमाशा हो गया ? वह कहां गया ? कहीं दिखाई नहीं दे रहा है ? उसकी सेना विदा होने लगी। नल ने देखा—कहीं छिपकर उपद्रव न कर बैठे, इसलिए वे उसके पदचिह्नों पर चलते—चलते वहां तक जा पहुँचे जहां वह साधु वेष बनाये बैठा था। नल महाराज ने सोचा—क्या, वस्तुतः ही इन्होंने अपने जीवन को साधुत्व में ढाल दिया है। क्या यह सच्चा साधु बना है ? अगर सच्चा साधु बना है तो मैं क्षमा मांग लेता हूँ। इस दृष्टि से तो ये जीते, मैं हारा हूं। मैंने शारीरिक बल से इन्हें हरा दिया, सैन्य शक्ति से भी हरा देता, पर मोह माया को छोडकर भगवान् के चरणों में अर्पित गया तो मैं इनके चरणों में झुकने तैयार हूँ।

कदम्बक ने कहा—मेरा संसार के पदार्थों में मोह था इसी से मेरी उदण्डता चल रही थी। मुझे अभिमान था। मैं आपसे जीत नहीं पाया। तब सोचा—अपने जीवन को खराब करने की बजाय मुनि

बनकर भगवान् के चरणों में आत्मा की अर्पण कर दूं। अच्छा होगा।

नल महाराज ने कहा–अपने हृदय से आत्म–अर्पण प्रभु के चरणों में कर दी तो आपके चरणों में हजारों–नमस्कार हैं। नल महाराज कदम्बक को नमस्कार करके उनके पुत्र जयशक्ति का राज्याभिषेक करके अपने स्थान पर आते हैं। दुष्टमति कहने लगा–आप कैसे वीर हैं जो जीते हुए राज्य को ठुकरा रहे हैं ? यह क्षत्रियों का धर्म नहीं। मगर महाराज नल ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया।

उधर कदम्बक अपनी आत्मिक शक्ति को श्रुत–चारित्र धर्म स्वरूप प्रभु के चरणों में अर्पण कर देता है।

देखा आपने अर्पण करना कैसे होता है ? आप समझ गए होंगे कि भगवान् के चरण कैसे होते है ?

सुमति चरण रज आतम अर्पणा,
दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी।

जो दर्पण के समान श्रुत और चारित्र धर्म में अर्पण कर देता है वह त्रिकाल विजयी हो जाता है उसकी भय, मैथुन आदि संज्ञाऐं समाप्त हो जाती हैं। क्रोध मान माया लोभ की पर्यायें, जो जीवन को बर्बाद करने वाली हैं, दूर हट जाती हैं।

आप भगवान् के चरणों में अपनी अर्पणा के लिए आरुढ़ होइये। यदि आप प्रभु के चरणों में अर्पणा कर देगें तो आपकी विकार–विभाव जन्य संज्ञाएँ समाप्त हो जाएँगी और आप वास्तविक सुख–शान्ति पा सकेंगे।

इसी भावना के साथ

तृष्णा की आग

अभिनन्दन जिनदर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव ।। 1।।
दर्शन दर्शन रटतो जो फरुं तो रण रोझ समान,
जेहने पिपासा हो अमृत पानन्नी, किम माँजे विषपान।
तरस न आवे हो मरण जीवन तणो, सीजे जो दर्शन काज,
दरिशण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, आनन्द घन महाराज ।। 2।।

ये प्रभु अभिनन्दन भगवान की प्रार्थना की कड़ियां हैं। इन कड़ियों को धीरे–धीरे आगे वढ़ता हुआ मैं आज अन्तिम कड़ी का भी उच्चारण कर पाया। इन कड़ियों का उच्चारण तो कभी भी किया जा सकता है। शब्द से भगवान् को पुकारना, स्तुति से भगवान् को सम्बोधन करना, माला से जाप करना यह अति सुन्दर कार्य है। यह कार्य आसान भी है। इसमें ज्यादा कष्ट नहीं करना पड़ता। जिह्वा को थोडा आदेश दिया तो वस जिह्वा बोलती रहती है–अभिनन्दन भगवान् अभिनन्दन भगवान् ! नाम रटने में तो कोई मुश्किल नहीं है। यह तो जैसे मशीन चलती है वैसे चलती रह सकती है।

एक व्यक्ति पंखा चलाने के लिए जैसे एक बटन दवा देता है तो पंखा चलता रहता है फोनोग्राफ का भी प्रायः यही हाल है। एक वार चूडी लगा दी तो जब तक उसमें शब्दवर्गणा के परमाणु भरे हुए है, वह बोलती रहेगी। पंखे का बटन दबाने वाला फोनोग्राफ की चूडी घुमाने वाला इन्सान है अर्थात् प्रयत्न मनुष्य का है । वह उस बटन

को दबाकर दूसरी तरफ कार्य करने लग जाता है। वैसे ही इस शरीर के अन्दर मुंह भी एक प्रकार का यंत्र है। इस मुंह के यंत्र को मन थोड़ा सा चला देता है तो मुंह उच्चारण करता रहता है। मुंह शब्द रटता रहेगा किन्तु मन किधर है ? कहां गया ? क्या तमाशा करता है ? इसका कोई पता नहीं। जैसे कोई मशीन को घुमा कर दूसरा—दूसरा कार्य करते रहते हैं। वैसे ही मन मुंह को शब्द को उच्चारण करने के लिए कहकर इधर उधर डोलता रहता है। कहीं आपका मन भी तो इधर उधर नहीं घूमता है ? वह इधर—उधर भटकता है। मुख प्रभु के नाम का उच्चारण करता है लेकिन उस उच्चारण के समय मन प्रायः स्थिर नहीं है। वह घूमता है। भटकता है। इसके भी कुछ कारण हैं। वे कारण कई भागों में विभक्त है। उन कारणों में से वर्तमान की कई विषम समस्याएँ भी सम्मिलित हैं उन विषम समस्याओं के कारण मन अधिक विचलित बन जाता है और उस विचलित अवस्था को देखकर कभी तुकबन्दियां भी प्रचलित हो जाती हैं—

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माय।
मनड़ो तो चउ दिस फिरे, यह तो सुमरण नाय।।

जीभ मुंह में चलती है, माला हाथ में फिरती रहती है पर मन चारों तरफ चक्कर खाता रहता है। हां, इतना तो अवश्य है कि माला हाथ में है, मुंह से उच्चारण है तो इसके पीछे कुछ मन का संकेत भी है। वह कार्य उसी ढंग से बनता है जैसे मैंने संकेत दिया। कवि कह रहा है :—

दर्शन—दर्शन रटतो जो फिरुं, तो रण रोझ समान।

भगवान् ! ऐसे दर्शन दर्शन दर्शन रटता रहूं तो यह रण रोझ के समान है। रोझ नाम एक जीवन होता है जो जंगल में रहता है। मन उसके समान प्रायः बिना मतलब भटकता है। उस प्रभु दर्शन के लिए तो—

जेहने पिपासा हो अमृतपानकी, किम भांजे विषपान ?

प्रभु के दर्शन की रट किसलिये ? क्या किसी कामना की पूर्ति के लिये भगवान् का स्मरण किया जाता है ? भगवान् के दर्शन का ध्यान शब्द की रट लगाने के लिए नहीं। वह तो अन्दर की प्यास

बुझाने के लिए है।

मनुष्य को बहुत जबरदस्त प्यास लगी हुई है ! वह प्यास वास्तविक शान्ति की है। मानव चाहता है कि मुझे दिव्य शान्ति प्राप्त हो जिसके मिल जाने पर फिर कभी अशान्ति नहीं मिले। शारीरिक अशान्ति तो दूर रही, कभी गर्म हवा भी न लगे। ऐसी–ऐसी अन्तःकरण की प्यास हर आत्मा को लगी रहती है। उस प्यास को बुझाने के लिए मनुष्य हर प्रकार का प्रयत्न करता है। मनुष्य का लक्ष्य बना हुआ है कि उसे सुख शान्ति मिले। चाहे वह गृहस्थाश्रम की दृष्टि से है या मुनि की दृष्टि से है, उसका प्रयत्न तो शान्ति का चल रहा है। उसे वह शान्ति का तत्त्व मिल नहीं रहा है यह दूसरी बात है। उसे मालूम हो जाय कि इस तरह से कार्य करने में सुख मिलेगा तो वह उसी रास्ते में लग जाता है। परिवार वालों ने शिक्षा दे दी। वह इस बात को अन्तःकरण में पकड़ लेता है और हर क्षण सोचता है कि मैं पैसा कैसे उपार्जन करूं ? कैसे पैसा अर्जन करने में सफल बनूं ? वह चाहे छल कपट धूर्तता भी करेगा। पर पैसा कमाने की कोशिश करेगा। क्योंकि परिवार वालो ने उसे यह शिक्षा प्रारम्भ से ही दे दी ! अतएव वह पैसे के पीछे दौड़ता है।

अगर उसको यह मालूम हो जाय कि भगवान के दर्शन की रट लगाने से मुझे वास्तविक सुखशान्ति मिलेगी तो वह उसी के पीछे लग जायगा और भगवान के नाम की रट लगा लेगा। लेकिन बिना सम्यग्ज्ञान के जो भी क्रियाएं की जाती है वे वास्तविक आत्मिक शान्ति रूपी प्यास को बुझाने में अमृत का पान न बन कर विषपान सा बन जाती है। अमृत की प्यास विष से कैसे बुझ सकती है ? क्या मैं कह रहा हूं इसी कारण आप इसे स्वीकार कर रहे हैं या आप भी ऐसा ही अनुभव कर रहे है ?

आप और दृष्टि से न सोचें। अपने अन्दर की कसौटी से सोचिये कि मिथ्याज्ञान के साथ रट लगाने से क्या कोई प्रभु के दर्शन कर पायेगा ? हृदय की तृप्ति उस रट से हो जायेगी ? आप जरा दिल से सोचिये क्या उससे सुखशान्ति का संचार हो जाएगा ? इस प्रकार की माला फेरते–फेरते चाहे कितना ही समय बीत जाय फिर

भी वास्तविक सुख शान्ति मिलने वाली नहीं है। ऐसी माला फेरने वाले बहुत हैं। प्रभु की रट लगाते–लगाते काफी समय हो गया। इतनी रटें लगाई तो क्या एक घंटे भर का भी वास्तविक सुख मिला ? नहीं मिला। वह वास्तविक सुख क्यों नहीं मिला ? वह दिव्य शान्ति प्राप्त क्यों नहीं हुई ? इसका कारण क्या है ?

जब रसोई की सामग्री है और उसे बनाने वाला भी है तो रसोई बनेगी। उसे खाया जायेगा तो भूख मिटेगी। यदि भूख नहीं मिटती है तो सोचना होगा–या तो जठराग्नि में गड़बड़ है, या रोटी में तथ्य नहीं है। एक व्यक्ति को प्यास लगी। वह पानी पीता है। एक गिलास पी गया, दो गिलास पी गया। तो एक गिलास से कुछ प्यास तो शान्त होनी चाहिये। फिर पानी मिल जाय तो प्यास बुझनी चाहिये। लेकिन वह दस गिलास पानी पी जाय फिर भी प्यास नहीं बुझे तो समझना चाहिये कि वह प्यास सच्ची नहीं थी। अथवा पानी के नाम से जो पी रहा है वह तत्त्व पानी नहीं, पानी के नाम से दूसरा तत्त्व है। यह तथ्य व्यक्ति स्वयं के अनुभव से समझ सकता है। एक वैद्य बीमारी दूर करने का प्रयत्न करता है। यदि दिल में थोड़ा शान्ति का संचार होता है, मन में कुछ तसल्ली आती है तो समझना चाहिये वह उपचार कुछ ठीक है।

आज का मनुष्य ज्यादा पैसे के पीछे दौड़ता है पर उससे तृप्ति नहीं होगी। एक व्यक्ति को पूछो कि तुझे कितने में तृप्ति होगी ? दस हजार दे दिया जाए तो हो जायगी तृप्ति ? पच्चीस हजार से ? लाख से ? दस लाख से ? उसे दस लाख भी दे दिया तो भी तृप्ति कहां ? मनुष्य सोचता है–बस इतना कमा लूं तो इतनी सम्पत्ति इकट्ठी हो जायगी, फिर बैठकर धर्म–ध्यान करूंगा। वह गृहस्थाश्रम में रह रहा है। उसमें कितना इकट्ठा करना है ? शायद अभी तो आप बोलने में अटक जायेंगे। एकान्त का प्रसंग हो तो और आपसे पूछ लूं कितना चाहिये ? तो क्या बतायेगें ? इस तृष्णा का कभी अन्त आने वाला नहीं है। इस पैसे से वास्तविक प्यास बुझने वाली नहीं है। यह सम्पत्ति स्थायी सुख–शान्ति दे नहीं सकती।

नमिराज ऋषि के सामने इन्द्र आकर खड़ा हुआ। कई तरह

के प्रश्न किये। उनमें से एक प्रश्न का आशय यह था कि राजन् ! आज आप साधु कैसे बन गये ? आपको तो बहुतेरे भंडार भरने थे। जरा बच्चों के लिए भंडार भरके साधु बनते। पर पहले ही साधु कैसे बन गये ?

उस समय नमिराज ऋषि मुनि के रूप में उत्तर देते हैं :-

सुवण्णरूप्पस्स उपव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया,
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हुआगाससमा अणन्तिया।

इन्द्र ! मैं सम्पत्ति बटोर कर एकत्रित करता रहता तो भी क्या होता ? हजारों, लाखों, करोड़ों की सम्पत्ति ही नहीं, सुमेरु सरीखे पर्वत भी एक दो नहीं, असंख्य एकत्रित हो जाते तो भी मन में तृप्ति नहीं आती। तृष्णा व्यक्त रहती, बनी रहती क्योंकि तृष्णा अनन्त है, असीम है, शान्त होने वाली नहीं है। इच्छा आकाश के समान असीम है। आकाश का अन्त पाने का यदि कोई प्रयास करे तो वह पा नहीं पाता। आज के वैज्ञानिक कदाचित् ओपोलों में बैठकर उड़ें और आकाश में कितने ही हजार लाख, कोस चले भी जावें लेकिन उससे भी आकाश का अन्त पाना शक्य नहीं है। जैसे आकाश का अन्त नहीं आता, वैसे ही तृष्णा का अन्त नहीं आता।

तृष्णा की प्यास बुझाने के लिए कोई बाह्य औषधि नहीं है। उस प्यास को बुझानी है तो सन्तोषवृत्ति लानी होगी। अप्रत्याख्यानावरण चौक के क्षयोपशमादि होने पर श्रावक बनने का प्रसंग आता है और वह फिर आगे प्रगति करता है। प्रत्याख्यान से आश्रवद्वार का निरोध होता है। आगे बताया-

पच्चखाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

आसवदाराइं निरुंभइ पच्चखाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरई

उ. सू. अ. 29

पच्चखाण से इच्छा का निरोध होता है, तृष्णा का मरण होता है। इसका निरोध हो जाने पर यह आत्मा तृष्णा की पूर्ति के लिए दौड़ेगी नहीं, उसका तृष्णा मिट जायगी। तृष्णा मिटानी है तो क्या करो ? इन्द्रियों का निरोध करो। अगर इन्द्रियों को विषय-वासना की

तरफ जाने से रोका तो आत्मा की तुष्टि की ओर बढ़ा जा सकता है। वहां कुछ शान्ति का संचार होगा।

वह कला लाने के लिए श्रावक व्रत और साधुव्रत का नक्शा है। इन अवस्थाओं को पाने के लिये इन्द्रिय निरोध आवश्यक है। लेकिन जो इन्सान इन्द्रियों का निरोध नहीं करता, उसके जीवन में अमृत का संचार नहीं होता। उसे वास्तविक सुख–शान्ति नहीं मिल पाती। फिर चाहे वह गृहस्थाश्रम में रह रहा है, चाहे साधु की स्थिति में रह रहा है। साधु बन जाने के बाद भी मानसिक रूप से इच्छा भड़की रही, तो भी वह सुख–शान्ति पा नहीं सकेगा। वह कौनसी इच्छा ? यह कि मैं साधु बना हूं, लोग मेरे चरणों में अधिक से अधिक आकर पड़ें, अधिक धन्यवाद दें, मेरा जयनाद करें, मेरी यश–कीर्ति बढ़े, बड़े–बड़े नेता मेरे पास पहुंचे, मेरी ख्याति चहुँ ओर हो। दुनियां में मैं ही मैं बड़ा कहलाऊं। ऐसी अगर साधु की भावना है तो फिर वहां भी समझना चाहिये कि इच्छा का निरोध नहीं हुआ है केवल इच्छा में रूपान्तर आ गया है। इसलिये साधु जीवन का पश्चात् भी अमृतपान करने की दृष्टि से मन में इस प्रकार भावना नहीं आनी चाहिये। अगर कोई चरणों में नमस्कार करता है तो साधु को चाहिये कि वह फूले नहीं। जरा भी अभिमान की मात्रा मन में नहीं लावे। अगर ले आया तो वह साधु कर्म का बंध कर लेगा। वन्दन करने वाले के तो निर्जरा होगी, पर अभिमान करने वाले साधु के कर्मबंध होगे। अभिमान मीठा जहर है।

अगर कोई क्रोधित होकर आक्रोशकारी शब्द बोल दे तो उस समय भी साधु को समभाव के साथ रहना चाहिये। उसके प्रति मन में ऊंचे नीचे भाव नहीं लाना चाहिये। साधु मन में यह भावना न करे कि मुझे अधिक से अधिक लोग वन्दन करें। उसे निरन्तर यही ध्यान रखना चाहिए कि मैं जिस उद्देश्य के लिए साधु बना हूँ उसे पूरा करूं। वह मानसिक वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए साधु बना है। वन्दन करने वाला भी यही सोचे कि मैं इन महापुरुषों को वन्दन कर रहा हूँ सो यह इनका नहीं, इनके त्याग तप रूप संयममय जीवन का गुणों का सत्कार–सम्मान है। इन गुणों के कारण ये महापुरुष

वन्दनीय है। मैं इनको वन्दना करूंगा तो मेरे कर्मों की निर्जरा भी होगी।

कभी—कभी मेरे भाई सोचते हैं—मैं विधियुक्त वन्दन करूंगा तो महाराज मुझ पर खुश हो जायेंगे। मैं कहूंगा—महाराज खुश हों या नहीं, किन्तु तुम महाराज को खुश करने के लिए नहीं, निर्जरार्थ कर्तव्य निभाने के लिए वन्दन करो। सन्तों को वन्दन इसलिए किया जा रहा है कि वे संसार की मोह—माया को छोड़कर सन्त बने हैं, सर्वस्व के त्यागी महात्मा बने हैं तो मेरा जीवन भी, जो अति तृष्णा की ओर जा रहा है, मैं भी उनके गुणों का अनुमोदन कर प्रेरणा लूं। ऐसी भावना के साथ वन्दन करने से महान् लाभ वन्दन करने वाले को होता है। साधु को तो अपनी स्थिति पर कायम रह कर चलना चाहिये। उसे वन्दना की तृष्णा नहीं रखनी चाहिये।

उनके साथ आप भी अपनी श्रावकवृत्ति से आत्म—कल्याणार्थ चलें। बढ़ा चढ़ाकर मन में तृष्णा को स्थान नहीं दें। जो महा इच्छा का परित्याग नहीं करके इच्छा को बढ़ाता रहता है उसकी स्थिति को ख्याल में रखिये। यह स्थिति कितनी दुःखदायी होती है।

आप अमृतपान करना चाहते हैं, अमृतपान करें, पर तृप्ति आनी चाहिये। पर ध्यान रखिये कहीं उस अमृत के साथ विष का पुट तो नहीं लगा है ? जिस इन्सान को इस विज्ञान का पूरा ज्ञान नहीं होता वह किधर कहां चला जाता है, कहा नहीं जा सकता। वर्तमान में भी नक्शे बनते रहते हैं। प्राचीन काल में भी ऐसे नक्शे बने हैं।

बन्धुओ ! कथाभाग का वह प्राचीनकाल का नक्शा आपके सामने चल रहा है। नल राजकुमार दमयन्ती के साथ विवाहित होकर अपने स्थान पर पहुंच गये। दमयन्ती सबके साथ प्रेम कर रही थी। उसमें अतितृष्णा नहीं थी, सन्तोष वृत्ति थी इसलिए जनता उसके प्रति आकर्षित थी। जनता चाहती थी कि हमारे महाराज चाहे नल हों पर महाराज की अपेक्षा से महाराणी दमयन्ती हमारी स्वामिनी है।

दमयन्ती के साथ—साथ नल की भी इज्जत बढ़ गई। यह कार्य उनके सद्गुणों से बन रहा है। उन्होंने अपने पर अंकुश लगाया और सन्तोषवृत्ति के साथ सद्गुणों को लेकर आगे बढ़े तो जनता का

सहज आकर्षण हो गया।

लेकिन इस घर में जन्म लेने वाले नल के छोटे भाई कुबेर के मन में डाह पैदा हो गई। डाह यानी जलन। वह जिधर देखता सुनता उधर ही नल की तारीफ, उन्ही के गुणगान, उन्हीं का स्वागत सत्कार ! और वह सोचता–मेरा कहीं नाम नहीं। भाई साहब जिधर इशारा करते हैं हजारों हजार हाथ लग जाते हैं, जिधर भाई साहब बोलते हैं उधर अनेकों के कान की खिड़कियां खुलकर सुनने को तैयार हो जाती हैं। पर मुझे कोई पूछता तक नहीं। मैं भी उनका भाई हूं। मुझ में क्या कमी है ? फिर लोग मेरी ओर जरा भी आकर्षित क्यों नहीं ? वह इसी जलन से जला जा रहा था। सोचा, भाई का यह नाम रोशन जो हुआ दमयन्ती के कारण से हुआ। जब से दमयन्ती आई है, उनकी इज्जत बढ़ गई। यदि दमयन्ती नहीं होती तो भाई से ज्यादा मेरा नाम होता। वह नल क्या समझता है ? वह तो धर्म भीरु है, धर्म–धर्म की बातें करता है। डरपोक है, कायर है, बुझदिल है। पर अब क्या करना चाहिये ?

उसके चित्त में तृष्णा का भूत सवार हो गया। दमयन्ती के कारण भाई की शोभा है। वह भौजाई भी कितनी होशियार है, कि उसने अपने पति के लिए कैसा सुन्दर मार्ग निर्माण कर दिया है ! यह बड़ा दुःखी हो गया।

उसकी यह चिन्ता बढ़ी और वह उन्हीं विचारों में डूबने लगा। उसे राजभवन में खाने, पीने, पहनने ओढ़ने की कमी नहीं थी। वहां किस चीज की कमी थी ? पर उसे मानसिक दृष्टि से रोग लग गया था। इस रोग से जो पीड़ित होते हैं उनकी भूख स्वतः बन्द हो जाती है, कमजोरी महसूस होने लगती है। अब वह कुबेर दोस्तों के साथ भी घूमने निकलता तो कहता–मैं क्या करूं ? मेरे शरीर में ताकत नहीं रही। मुझे भूख नहीं लगती। यह सब क्या हो गया ?

दोस्त कहते हैं–हम वैद्य के पास ले चलें। वैद्य से उपचार करवा दें। वैद्य बुलाये भी गये पर किसी का उपचार लगा नहीं। डॉक्टरों के पास साधन क्या ? बाहर से एक्सरे ले लिया, अवयवों की तपास करली, टट्टी, पेशाब की जानकारी कर ली डॉक्टरों और वैद्यों

ने देख कर कहा–इनको शरीरिक कोई रोग नहीं है। दोस्तों ने कहा–रोग नहीं है तो फिर भूख क्यों नहीं लगती ? दिनों दिन कमजोर क्यों हो रहे हैं ? सब हैरान थे पर इलाज क्या करें जब कि रोग का ही पता नहीं। आखिर दोस्त भी धीरे–धीरे खिसकने लगे। वे कहने लगे देखों दोस्त, हम भी नल के साथ रहना चाहते है क्योंकि उनक साथ तो हमारा भी सत्कार होता है। आपके साथ रहने में तो अब कोई मजा नहीं है।

मानसिक रोग कैसे मन में प्रवेश करता है। यह इस कथाभाग से जाना जा सकता है। आप लोगों को भी सोचना है कि इस प्रकार का रोग हम में तो नहीं है ?

मानसिक रोग के बीमार आज बहुत मिलेंगे। शरीर की दृष्टि से रोगी होगें तो चिकित्सा भी शीघ्र हो जाती है, पर मानसिक रोग की चिकित्सा कम होती है। तो वे दोस्त भी धीरे–धीरे कुबेर के पास से खिसकने लगे। इससे वह और घबरा गया। एक जलन तो यह कि भाई का इतना नाम क्यों ? दूसरी जलन यह कि दोस्त लोग भी अब किनारा करते जा रहे है।

इतने में उस नगर में एक मनोविज्ञानवेत्ता डॉक्टर आ गया। कुबेर के एक मित्र ने सोचा–मेरा दोस्त तकलीफ में है और मानसिक डॉक्टर यहां आया हुआ है तो मुझे प्रयास करके दोस्त का इलाज करवाना चाहिये। उसने डॉक्टर से कहा–आप चलकर हमारे राजकुमार के रोग का निदान कीजिये। वह दोस्त डॉक्टर को लेकर राजभवन में कुबेर के कमरे में पहुँचा। डॉक्टर ने उसकी परीक्षा की और कुछ जीवन की घटनाएं पूछी। फिर परिणाम घोषित किया। डॉक्टर ने कहा–इनके बाहर के रोग का प्रसंग नहीं है। मनोविज्ञान वाले मानसिक रोग का निदान जीवन की चर्या से करते है। और उससे ही मैं निदान कर पाया हूँ कि इनका मानसिक रोग अधिक बढ़ गया है अतः शान्त होने का उपाय नहीं है। फिर भी वह दोस्त से कहने लगा–देखो भाई, अगर इन्हें तन्दुरुस्त करना चाहते हो तो इन्हें यह समझाओं कि इनके भाई के पास यह जो सत्ता, सम्पत्ति, मान, अधिकार और स्वामित्व है वह कि न किसी पूर्व जन्म की पुण्यवानी से है, अतः

उनसे ईर्ष्या न करें। दोस्तों ने उसे समझाया भी कि नल महाराज को जो समृद्धि एवं कीर्ति मिली है वह पुण्योदय के कारण मिली है। इनका वर्तमान जीवन भी अच्छा है पूर्व जन्म की पुण्यवानी के उदय का भी प्रसंग है। इसलिए आप उनसे ईर्ष्या की भावना मत रखो। आपको पता नहीं कि मुनिराज ने बताया है कि दमयन्ती और नल कई जन्मों से धर्म करनी करते आ रहे हैं और उसी पुण्य के संयोग से उनका नाम है, ख्याति है, यश है। इसलिए अब आप उनके प्रति समभाव रखिये। ईर्ष्या करना छोड़ दीजिये।

मनुष्य चाहे तो अपना जीवन निर्माण भी कर सकता है और उसे बर्बाद भी कर सकता है। मित्रजन कुबेर को समझाने का प्रयत्न कर रहे थे पर उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसकी बीमारी गहरी होती गई।

मानसिक चिकित्सा करने वाले डॉक्टर के इलाज से विशेष कामयाबी नहीं हुई, पर कुबेर ने निर्णय जरूर कर लिया कि भई साहब के लिए कोई उपाय तो ढूंढना ही चाहिये। डॉक्टर के चले जाने पर स्वार्थ वृत्ति को लेकर एक व्यक्ति कुबेर के पास पहुँचा। वह बड़ा नम्र बना और कहने लगा–आपका जीवन मुरझा रहा है। क्या बात है ?

कुबेर ने कहा–मेरा दिमाग भी काम नहीं करता, मैं क्या करूं ?

दृष्टमति बड़ा चालाक था। उसने रोग का निदान पा लिया और कहा–राजकुमार, मैं आपके रोग का पूरा इलाज कर सकता हूं। वह ठेका ले लेता है। वह कहता है–राजकुमार, मैं आपके रोग की स्थिति समझ रहा हूँ। उसे मिटाने का उपाय मैं कर सकता हूँ। नल राजकुमार की जो शक्ति है, वैभव है, यशकीर्ति है, वह सारी की सारी आपके चरणों में उड़ेल दूंगा। इतनी देर तक उसका मस्तिष्क अस्त–व्यस्त था। वह थोड़ा एकाग्र होकर बोला–ऐसी बात हो सकती है ?

वह दुष्टमति बोला–अवश्य। मुझे समय मिलना चाहिये और खर्चा मिलना चाहिये।

कुबेर बोला–तुम फ्रिक मत करो। मेरे अधिकार में बंगले जमीन जायदाद लाखों की है। अगर यह प्रयास कर दोगे तो दस लाख रुपये दे दूंगा। यदि मेरे बड़े भाई का यश, सन्मान एवं राज्य मुझे मिल जाय। मैं राजा बन गया तो उसे दर भटका दूंगा।

देखो बन्धुओं ! संसार का क्या नक्शा है ? क्या भावना है ? क्या यह बुद्धि का दुरुपयोग नहीं है ? यह आत्मा के पतन का रास्ता है।

उस व्यक्ति के साथ कुबेर ने सांठ गांठ कर ली और उससे प्रतिज्ञा करवा ली। अब वह दुष्टमति वहां से चलकर नल महाराज के पास जाकर विनयभाव के साथ निवेदन करने लगा। उनका जयनाद किया, विरुदावलि गाई और उनके पास बैठकर कहने लगा–मैं आपके चरणों की सेवा करना चाहता हूँ। आप महान् भाग्यशाली, राजाधिपति राजा हैं। आपने कैसी पुण्यवानी प्राप्त की और पत्नी का भी कैसा सुन्दर संयोग मिला कि कुछ कहा नहीं जाता । मैंने सोचा–ऐसे महापुरुष के पास जाकर दर्शन और सेवा करके जीवन धन्य बनाऊं।

महात्मा मन वचन और कर्म से एक लक्षण वाले होते हैं जब कि दुरात्मा के मन में कुछ और होता है, वह बोलता है कुछ और ही है। वह दुष्टमति ऊपर से बड़ा विनयशील बन रहा है, भक्तिभाव पूर्वक उनकी सेवा कर रहा है, बनावटी बातें रख रहा है। पर अन्दर में कुछ दूसरे ही विचार थे। नल महाराज भद्र सरल स्वभावी थे। वे नहीं समझे कि वह छल के साथ कहता है। उन्होंने उसे कर्तव्यनिष्ठ, सेवाभावी समझा। कहा–कोई बात नहीं, यहां रहना चाहते हो तो रह सकते हो।

अब वह जब–जब वार्तालाप आदि का प्रसंग आता तो कुबेर में कुछ भी अकल नहीं, वह आपसे ईर्ष्या रखता है। वह दुरात्मा है, इस तरह से वह नल राजा के सामने कुबेर की अनेक प्रकार से निन्दा करता रहता। नल को उसके प्रति कुछ विश्वास भी होने लगा कि यह मेरे लिए कितना अच्छा सोचता है। और कुबेर जैसा है वैसा ही बता रहा है।

वह महाराज नल की ही आज्ञा को शिरोधार्य करके जलने लगा। ऐसे कार्य करते देख नल ने सोचा–यह ईमानदार व्यक्ति है। उसे अपने पास ही रखना चाहिये। नल ने उसे विश्वासपात्र समझा और वह अपना काम बढ़ाता रहा। जब कभी घूमने जाते तो उसे भी रथ में बैठाकर निकलते। वह कुबेर प्रसंग पाकर निन्दा करता है। उसके मुंह में मीठास है, अन्दर में जहर है। एक रोज का नक्शा कुछ और ही बनता है।

दुष्टमति ने सोचा–अब महाराज के मन में मेरे प्रति विश्वास तो पैदा हो गया पर मेरा काम कैसे बनेगा ? उसने षड्यन्त्र रचा। सोचा–जब तक इनके ज्ञानतन्तु सबल रहेंगे तब तक मेरी दाल नहीं गलेगी। इसलिए इनकी ज्ञानशक्ति को कुण्ठित करना चाहिये। वह नल महाराजा से कहने लगा–आप राजाधिपति राजा हैं। आपके पास बहुत काम हैं, कितनी जिम्मेदारी है। इसलिए मस्तिष्क की शान्ति के लिए कुछ कार्य करना चाहिये। नल कहता है–मेरा मस्तिष्क तो ठीक है। तब वह कहता है–नहीं, नहीं महाराज, हम आपको बहुत काल तक देखना चाहते हैं। इसके लिए पूरी नींद आनी चाहिये, विश्रान्ति के लिए थोड़ा नशा भी ले लेना चाहिये।

मैं आजकल कई भाइयों के मुंह से सुनता हूं। वे कहते हैं–महाराज, थकान आ जाती है इसलिए थोड़ा नशा लेते है। परन्तु नशे से क्या होता है ? उससे आदमी कमजोर और एक प्रकार से शून्य बन जाता है। आगे चलकर शरीर की नसें ढीली पड़ जाती हैं। आज अधिकांश भाइयों की स्थिति डांवाडोल क्यों हो रही है ? डॉक्टर भी जल्दी से विश्रान्ति के लिए इन्जेक्शन दे देंगे और सुला देंगे। इस प्रकार नशा का सेवन करते रहने से मनुष्य जीवन कभी–कभी खतरे में पड़ जाता है।

धमतरी के पास एक भाई का मोटर सायकल से एक्सीडेन्ट हो गया और उसे मूर्छा आ गई। वहां पास में ही हास्पिटल था। वहां उसे भर्ती किया गया। छोटे डॉक्टर थे। उन्होंने विश्रान्ति के लिए नशे का इन्जेक्शन दे देना चाहिये, ऐसा सोचकर इन्जेक्शन दे दिया। पर इन्जेक्शन कब कितना और किस मात्रा में देना चाहिये, इसका छोटे

डॉक्टरों को पूरा विज्ञान न होने से यह देना ठीक है या वो ठीक, इसकी तरफ उनका ध्यान विशेष नहीं रहता है और इन्जेक्शन दे देते हैं। उस डॉक्टर ने इन्जेक्शन दिया जिससे वह सोया का सोया रह गया।

कल एक सज्जन कह रहे थे कि एक विद्यार्थी की स्थिति भी ऐसी बन गई। जहां विवेकवान् डॉक्टर है वहां तो जीवनरक्षा हो जाती है नहीं तो जीवन खतरे में भी पड़ सकता है।

हां, तो मैं कह रहा था कि वह दुष्टमति सोच रहा था कि में अगर नल महाराजा के जीवन को कमजोर नहीं करूगा तो मेरे हाथ कुछ भी आने वाला नहीं है। उसने कहा–विश्रान्ति के लिए कुछ नशे का सेवन करना चाहिये जिससे नींद अच्छी आवे।

नल ने सोचा–यह दिन–रात मेरी सेवा करता है तो मेरे हित में ही कहता है। नल उसके चक्कर में आ गए। दुष्टमति पहले तो थोड़ी मात्रा में नशा देने लगा और नल महाराज लेने लग गये। फिर कहने लगा–महाराज यह जीवन बार–बार मिलने वाला नहीं है। आप किस धर्मकथा के चक्र में पड़ गये हैं। किसने स्वर्ग देखा है ? आप तो अपने वर्तमान जीवन की तरफ देखो।

अब नल के जीवन में सत्संगति का संयोग कम होने लगा। उसके मस्तिष्क में रात–दिन वह दुष्टमति कुव्यसनों की भावना भरने लगा। नल महाराज भी दुष्टमति की संगति से लापरवाह हो जाते हैं।

बन्धुओ ! जरा सोचना है। आज मेरे भाइयों को प्रायः कैसा वातावरण मिल रहा है ? क्या उनका जीवन दुष्टमतियों के संसर्ग में ज्यादा, रह रहा है या सुज्ञ पुरुषों के ? आज भाइयों को यह कहने वाले तो बहुत मिल जायेंगे कि धर्म में क्या रखा है ? यह सब ढोंग है, महापुरुषों की बातें बेकार हैं। इस प्रकार की बातें कहकर वे विषयवासना और भौतिक सुख–सुविधा की ओर मनुष्यों को ले जाना चाहते हैं। कई पुरुष उनकी बातों में सहज ही आ जाते हैं।

मैं आपको क्या बताऊँ ? कथाभाग की स्थिति तो वहां की है पर ऐसी स्थितियां आज आपके यहां भी कुछ मौजूद होंगी ? आज इस प्रकार की चल रही कुसंगति को मिटाने के लिए सुसंगति की

नितान्त आवश्यकता है। सत्संगति में दस अच्छी बातें सुनेंगे तो कुछ तो जीवन में उतरेंगी।

मैं आपको पूछता हूँ–आप क्या पसन्द करते हैं ? सत्संगत या कुसंगत ? पसन्द तो सुसंगत करते हैं। आप अपने बच्चों में क्या संस्कार दे रहे हैं ? आपके बच्चे स्कूल और कालेजों में क्या करते हैं ? क्या पढ़ते हैं ? मेरे पास कई माँ बाप आकर कहते हैं, अपना रोना रोते हैं–महाराज, क्या करें ? बच्चा घर में से चोरियां करके वस्तुएं ले जाता है। आप तो यही समझ रहे हैं कि हम बच्चों को स्कूल भेज रहे हैं और सब कुछ अच्छा हो रहा है। स्कूल कालेजों में भेज देगें, रुपया मांगोंगे तो देना पड़ेगा। पर कभी आपकी जबान से यह भी कहा जाता है कि हम रुपया तक देगें जब तू घड़ी भर धर्मसाधना के लिए सत्संगति के लिये जायेगा ! क्या ऐसे संस्कार आप देते हैं ? आप खुले में नहीं कह सकते ? अपने–अपने दिल में सोच लीजिये। पर इसका नतीजा क्या होने वाला है यह भी ख्याल कर लीजिये।

मनुष्य जब दुर्गति की तरफ बढ़ जाता है, नशा का सेवन करने लग जाता है तो कुसंगत कहां ले जाकर गिराती है ? यह कथा भाग में भी देखते जाइये। महाराज नल के मन में पहले क्या भावना थी कि मैं पांच इन्द्रियों के विषयों से अलग रहूँगा, सुसंगति से जीवन का निर्वाह करूंगा। पर अब वे कुसंगत के कारण संसार के कुव्यसनों का सेवन करने लग गये।

अब महाराज की तृष्णा भी बढ़ने लगी। इन्द्रियों का क्षणिक सुख ही सब कुछ दिखाई दे रहा है। एक रोज वह दुष्ट महाराज को घोर जंगल में ले गया तो वहां कुछ और ही नक्शा बना। वे रास्ता भूल गये। नल राजकुमार जंगल में थककर बैठ गये, श्रम बहुत हो गया, थकान आ गई। सोचा अब क्या करना चाहिए ? उस दुष्टमति ने उनके लिए अपने हाथों से इधर–उधर से सूखी घास एकत्रित कर शय्या बनाई और कहा–महाराज, आप थोड़ा विश्राम कीजिये। उनके हाथ पांव दबाये। अब महाराज को मन में और पक्का विश्वास हो गया कि यह बड़ा सेवाभावी है। उन्हें प्यास लगी तो कहा–अभी पानी लाता हूँ। मैं अपना जीवन देकर भी पानी ला सकता हूँ। वह पानी लाने

जाता है। नल बड़े खुश हो रहे हैं। वह भी खुश हो रहा है कि मेरा काम बन रहा है। नल को भूख लग रही थी लेकिन भूख की अपेक्षा प्यास ज्यादा थी। इसलिए सोच रहे थे कि पानी आ जाने के बाद भूख मिटाने के लिए कहूँगा। महाराजा नल शान्तिपूर्वक शय्या पर सोये हुए सोच रहे हैं। वह दुष्टमति भी अपनी मनोरथ--सिद्धि के लिए इच्छानुसार अनेक तरह की कल्पना करते हुए पानी लेने जा रहा है। वह भी मन में विश्रान्ति लेता हुआ सोच रहा है कि मेरा काम बनता जा रहा है। दोनों अपने मन के लड्डू खा रहे हैं।

आपने सामने क्या स्थिति है ? आप किस संगत में हैं, इसका आपको विचार करना है। कहीं आप अपने जीवन के साथ खिलवाड़ तो नहीं कर रहे हैं ? आपको इस ओर गंभीर विचार करने की आवश्यकता है।

आप अपने जीवन को सत्संगति में जोड़ते हुए आगे बढ़ने में सत्पुरुषार्थ करेंगे तो आपका कल्याण हो सकेगा।

इसी शुभ भावना के साथ

दुर्व्यसन का चंगुल

सुमति चरण रज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिये, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी ।। 1 ।
त्रिविध सकल तनुधर गत आतम, वहिरातम धुरि भेद, सुज्ञानी
बीजो अंतर आतम तीसरो, परमातम अविच्छेद, सुज्ञानी ।। 2 ।

ये प्रभु सुमतिनाथ भगवान् की प्रार्थना की कड़ियां हैं। इनका उच्चारण कल भी हुआ और आज भी आपके सामने आया है। भगवान के चरणों में प्रार्थना रखी जाती है और विभिन्न नामों के साथ विभिन्न कड़ियों से उच्चारण भी किया जाता है। ये प्रार्थनाएं कभी किसी भगवान की आती हैं और कभी किसी भगवान की। प्रार्थना में कभी कम कड़ियों का उच्चारण होता है कभी ज्यादा कड़ियों का होता है। कम प्रार्थना करने से भगवान थोड़े खुश होगें, ज्यादा की तो अधिक खुश होगें और प्रार्थना नहीं की तो भगवान् नाराज हो जायेंगे ऐसी बात नहीं है। भगवान् के अनेक नाम हैं, उन अनेक नामों में से किसी एक नाम से स्तुति कर रहा हूँ तो उस नाम वाले खुश हो जायेगे और बाकी के नाराज हो जायेंगे ऐसा भी नहीं है। इसलिए अनेक भगवान की स्तुति न करके एक ही भगवान की स्तुति क्यों न की जाय ? अगर अनेक भगवानों की स्तुति की जायगी तो कहावत है—'सात मामा का भानजा भूखा रह जाता है।' सात मामा का भानजा होता है तो वह मामा देखता है वे जिमायेंगे, वह सोचता है वहां जीम लिया होगा। इस प्रकार सोचने में वह भानजा खाली पेट रह जाता है। उसी

तरह से हम भी अनेक भगवानों की भक्ति करें तो हमारी भी वह दशा तो नहीं बनेगी ? और यदि वैसी दशा बनती हो तो हम सभी भगवान की स्तुति न करके किसी एक ही भगवान को पकड़ लें और उन्हीं के चरणों में तल्लीन हो जावें तो क्या वे भगवान तारेंगे नहीं ?

ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। विचारवान मनुष्य के मन में प्रश्न पैदा होना ही चाहिये। पर प्रश्न से पहले सोचने की आवश्यकता है कि भगवान सात मामा की तरह नहीं हैं। वे निर्मल है, पवित्र हैं, राग द्वेष आदि विकारों से रहित और आठ कर्मों से मुक्त आदर्श तटस्थ है। वे किस अवस्था में रहने वाले हैं ? आपके समान प्रकृतियां रखने वाले हैं या आपकी प्रकृतियों से भिन्न हैं ? आठ कर्म मामा के लगे हैं और भानजे के भी लगे हैं लेकिन ईश्वर के नहीं लगे हैं। राग द्वेष से युक्त संसार दशा का नक्शा कुछ और ही है। एक व्यक्ति की सेवा करने पर दूसरा व्यक्ति नाराज होता है और सोचता है–इसकी ज्यादा सेवा की, मेरी कम की। ऐसी भावना संसारी प्राणियों की होती है। यह भावना जब तक है तब तक कोई शुद्ध ईश्वर नहीं बन सकता।

जहां राग द्वेष से तटस्थ रहकर समभाव होगा, स्वार्थ–लिप्सा नहीं होगी, पक्षपात नहीं होगा, वहां सेवा की अपेक्षा नहीं होगी। भगवान् को आपकी सेवा से कोई प्रयोजन नहीं। वे सदा समभाव के अन्दर स्थित हैं। आप एक भगवान की स्तुति करें या अनेक भगवानों की करें या निन्दा करें लेकिन भगवान कभी तीन काल में भी नाराज होने वाले नहीं हैं। उनके नाराज होने का कभी प्रसंग नहीं आता। वे समभावी हैं। हमारे लिए आदर्श हैं। हमको प्रेरणा लेनी है तो वह किसी भी आदर्श को सामने रखकर ली जा सकती है। यह उत्तरदायित्व मनुष्यों पर है। आप उनके आदर्श को लेकर चलेंगे तो स्तुति कम हो पाई है या ज्यादा हो पाई है इसका प्रयोजन नहीं रहेगा। आप दर्पण की तरह अविकार बन जायेंगे।

दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी।

दर्पण के अन्दर आप विकार नहीं देखते। आपके कमरे में पचास दर्पण लगे हुए हैं। उनके सामने आप जाते हैं। आकृति देखकर हाथ मलते हैं। उस समय आप एक ही दर्पण के सामने या सब दर्पणों

के सामने हैं ? एक ही दर्पण के सामाने खड़े होंगे तो दूसरा दर्पण नाराज हो जायगा ? पहले दर्पण के सामने खड़े हो गये, फिर थोड़ी देर बाद दूसरे दर्पण के सामने जाकर खड़े हुए तो क्या दूसरा दर्पण नाराज होगा ? दर्पण नाराज होने वाला नहीं है। आप जब भी उसके सामने खड़े होंगे अपनी आकृति देख सकेंगे।

वैसे ही भगवान आदर्श रूप में हैं। उनके पीछे कल्पना मत करिये कि उनकी स्तुति अधिक या कम हो गई और वे नाराज राजी हो जायेंगे। राजी–नाराजी कहां है ? उसकी स्थिति अपने जीवन में देखने की आवश्यकता है यहां बतलाया गया है :–

त्रिविध सकल तनुधर गत आतम
वहिरातम धुरि भेद, सुज्ञानी।

परमात्मा से आदर्श ग्रहण कीजिये और तात्विक दृष्टि से सोचिये कि हम भगवान के बताये मार्ग पर चिन्तन कर रहे हैं या उनके मार्ग को छोड़कर ? भौतिक दृष्टि से तत्व का अर्पण करने वाला कौन ? यह आत्मा। लेकिन आत्मा एक दृष्टि से एक है जैसे कि शास्त्र में पाठ आया है–ठाणांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में आत्मा के लिए 'एगे आया' शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि इस सूत्र के अनुसार एक ही आत्मा है तो फिर तीन आत्मा का निर्देश कैसे ? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। लेकिन उसी ठाणांग सूत्र की जब संग्रहनय को छोड़कर अन्य नयों की दृष्टि से व्याख्या की जाती है तो आत्माएं अनेक भी हैं। अतः उन नयों का लक्ष में रखकर आत्मा के यहां मुख्य तीन भेद किये गये हैं।

एक–बहिरात्मा, दूसरा अन्तरात्मा और तीसरा–परमात्मा।

वहिरात्मा किसको समझना ? जिसकी दृष्टि सर्वथा बाहर की तरफ हो वह वहिरात्मा। बाहर की दृष्टि का तात्पर्य क्या ? बाहर का मतलब चूने पत्थर के मकान से बाहर का नहीं, पर जिस व्यक्ति का ध्यान अपने आत्मस्वरूप मकान में न हो वह बाहर देखता है। उसे आप क्या कहेंगे ? उसको अपने मकान का ध्यान नहीं, वह बाहर ही बाहर भटकता है और आप जानते हैं कि जो ज्यादा बाहर भटकता है उसे लोग आवारा कहते हैं। जो घर में व्यवस्थित नहीं रहता वह

आवारा। उसे वहिरात्मा कहा जा सकता हैं ऐसे आत्मा का ज्ञान, विवेक शक्ति अपने घर में नहीं रह कर घर से बाहर निकल जाती है। कौन से घर से ? आत्मा का घर मालूम है आपको ? आप को मिट्टी के, चूने के और पत्थर के मकान तो मालूम हैं। उन्हें आप अपना मानते हैं। लेकिन वस्तुतः वह मकान आपका है क्या ? वह वस्तुतः आपका मकान नहीं है ? फिर भी उसे आप अपना मकान समझ रहे हो।

आपके मकान है क्या ? किससे पूछूं ? अपने वास्तविक मकान को बताने वाले कितने हैं ? जो मकान से बाहर निकल जाय उसे आप आवारा कहते हैं लेकिन जो आत्म स्वरूप से परे हट जाय क्या उसे आवारा कहेंगे ? आज प्रायः मनुष्य किधर भटक रहा है ? उसकी दृष्टि प्रायः संसार के श्रृंगार में लगी रहती है, उसका मन संसार की विषयवासना में दिन–रात रचा–पचा रहता है। आप दूकान पर जाते हैं तो किसलिये ? नौकरी पर जाते हैं तो किसलिये ? आप अपने परिवार के लिए कहां–कहां जाते हैं ? क्या–क्या करते है ? पर आत्मा के लिये कह देंगे–हैं महाराज, समय नहीं मिलता। संसार के दूसरे–दूसरे कार्यों के लिए जितना चाहिये उतना समय निकाल लेते हैं पर आत्म–साधना के लिये समय नहीं। यह आवारापन नहीं है क्या ? यह आवारापन की स्थिति बनाई किसने ? बाहर के किसी व्यक्ति ने नहीं बनाई, स्वयं ने बनाई है।

आज मानव कहां जाता है ? वह या तो तिजोरी की तरफ जायेगा, सम्पत्ति बटोरने में रहेगा या मकान, जायदाद की तरफ जायगा या लड़ने झगड़ने की तरफ जायगा कि अमुक व्यक्ति ने यह कह दिया मैं उसका बदला लूं। अथवा पाँच इन्द्रियों के विषयों की तरफ इच्छा दौड़ेगी। वह फिर रोता है। रोता क्यों है ? क्या गमी हो गई ? कोई काल कर गया ? वह रोने लगा तो किस लिये ? स्वास्थ्य के लिए या अन्य भौतिक तत्वों के लिए ? ये सब वहिरात्मा के लक्षण हैं।

आत्मा मरता नहीं, पर वह दूसरा चोला पलट लेता है। शुभ काम करने पर सद्गति और बुरे कृत्यों से नीची गति मिलती है। भौतिक पिण्ड के पीछे भान भूलना वहिरात्मा का लक्षण है। आचारां

सूत्र में 'पुरत्थिमाओं वा दिसाओ आगओ अहमंसि' आदि पाठ से बतलाया गया है कि यह आत्मा किस दिशा से आया है ? कल मैंने द्रव्य दिशा के विषय में कहा और शास्त्रपाठ का उच्चारण करके व्याख्या रखी। द्रव्य दिशा के साथ शास्त्र में भाव दिशा बतलाई गई है। अर्थात् शास्त्रीय दृष्टिकोण से जो उठारह भाव–दिशाओं का उल्लेख है मैं उन भावदिशाओं को आपके सामने रख जाता हूं जिन्हें आप समझने का यत्न करें।

वे इस प्रकार हैं :– (1) कर्मभूमिज–मनुष्य (2) अकर्मभूमिज मनुष्य (3) छप्पनद्वीप के मनुष्य (4) संमूर्छिम मनुष्य, (5) पृथ्वी काय (6) जलकाय (7) अग्निकाय, (8) वायुकाय, (9) वनस्पति के अग्रबीज, (10) वनस्पतिकाय के मूल बीज (11) वनस्पतिकाय के पर्व बीज (12) वनस्पतिकाय के स्कन्द बीज, (13) बेइन्द्रिय, (14) तेइन्द्रिय, (15) चउरेन्द्रिय (16) पंचेन्द्रिय (17) नरकगति (18) देव गति।

इन अठारह दिशाओं का हर किसी आत्मा को ज्ञान नहीं होता और हर आत्मा यह भी नहीं जानता कि मैं किस भावदिशा से आया हूँ ? यहां आपको द्रव्यदिशाओं से नहीं, इन भावदिशाओं की दृष्टि से विचार करना है। लेकिन भावदिशा का विचार करना भी कब आयेगा ? जबकि आपमें आत्मा के अन्तरंग रूप को देखने की क्षमता होगी। जब आत्मा में अपने अन्तरंग स्वरूप को देखने की क्षमता आ जायेगी तो फिर आत्मा के भटकने के कारणों को भी वह जान सकेगी।

मैं बोलता जा रहा हूं और आप में से कुछ भाई विश्रान्ति ले रहे हैं। आपको प्रायः इन बातों को सुनने का अभ्यास नहीं और फिर शास्त्रीय बातों को आप पूरी तरह से पकड़ भी नहीं पाते। इसलिए मैं भी चाहता हूँ कि आपको थोड़ी–थोड़ी खुराक दूं और आप इस थोड़ी खुराक से अपना अभ्यास बढ़ा सकें।

जब तक इन अठारह दिशाओं का आपको ज्ञान नहीं होगा तब तक अन्तरात्मा की सही स्थिति भी नहीं जान पायेंगे। यह भी एक प्रकार से प्रश्न है। प्रश्न कई खड़े होते हैं, कई उलझनें भी आती हैं पर आप उनसे घबराइये मत। उन पर गंभीरता के साथ चिन्तन–मनन

कीजिये। शास्त्रों के अध्ययन में रुचि रखिये। शास्त्रों के मर्म को समझने की क्षमता बनाइये।

जिसका अन्तरात्मा का नक्शा बनेगा उसकी बाहर की दृष्टि गौण रहेगी और उसका ध्यान अन्तरदृष्टि को विकसित करने में रहेगा। आप मेरे कथन को केवल ऊपर–ऊपर से ही न पकड़ लें कि महाराज ने कह दिया–बाहर नहीं भटकना तो हम घर के दरवाजे बन्द कर लें। बाहर नहीं जाने का मतलब है–भाव से बाहर नहीं जाना। अन्तरदृष्टि बाहर जाता भी है तो घर का ख्याल रख कर जाता है।

मैं जरा आपसे पूछ लूं कि आप कहां परिभ्रमण कर रहे है ? परिभ्रमण चाहे कहीं कर रहे हों पर यदि अन्तरात्मा का ख्याल रख लिया और फिर किसी दूसरे–दूसरे काम में भी लग गये तो वहां आवारापन की स्थिति नहीं कही जायगी। आपको हाथ, पैर, नाक, मुंह, कान आदि बन्द नहीं करने हैं, उनमें संशोधन करना है। आवारापन छोड़कर अन्तर–आत्मा की तरफ मुड़ना है।

जहां बहिरात्मा की भावना होती है वहां क्या नक्शा बनता है, इसका नतीजा कुछ कथाभाग के प्रसंग से भी देखा जा सकता है।

बन्धुओ ! नल राजकुमार नल नरेश बन चुका था। नल नरेश कितना शक्तिशाली था, इसका थोड़ा जिक्र कल मैंने रखा कि उन्होंने कदम्बक महाराज को, जो सदा बहिरात्मा में डोल रहा था, सम्पत्ति को ही सब कुछ समझ कर चल रहा था, सत्ता के रंग में रंगा रहना चाहता था, उसकी नल नरेश से टक्कर हुई तो वह बाहरी आत्मा से हटकर अन्तरात्मा के स्वरूप में आ गया तो नल महाराज को भी जीत लिया। वह कदम्बक जब तक बहिरात्मा था तब तक कुछ गर्व रखता था कि मैं इस बाह्यशक्ति से नल को परास्त कर अधीन कर लूंगा लेकिन नल की जब टक्कर हुई तो उसको महसूस हुआ कि मैं जिन बाह्य पदार्थों पर गर्व कर रहा था वे बेकार हैं। इन साधनों से मैं नल नरेश को झुका नहीं सकता। नल को झुकाने के लिए मुझे अन्तर की शक्ति को संभालना होगा। इत्यादि सोचकर वह अन्तरात्मा की पोशाक सजा लेता है तो नल भी उसके चरणों में झुक जाता है। क्योंकि उस

समय तक कुसंगत का पूरा असर नहीं हो पाया था। बीच में यत्किंचित् हुआ था लेकिन पूर्व के संस्कार प्रबल होने से वह कुसंगत का यत्किंचित् असर भी ढीला पड़ गया और कदम्बक महाराज को अन्तरात्मा की साधना में देखकर नतमस्तक हुआ और अच्छा समझने लगा।

हां, तो आपको ध्यान में रखना है कि बहिरात्म–स्वरूप एक स्वार्थी पुरुष नल नरेश के साथ लग गया था। दुष्टमति रखने वाला वह चंद चांदी के टुकड़ों के लिए नल महाराज को कुव्यसन में डाल रहा था। कुबेर भी बहिरात्मा के कारण डोल रहा था। नल नरेश को दुष्टमति मित्र पर इतना विश्वास हो गया कि हमारे शरीर दो हैं पर मन एक है।

अब दुष्टमति ने सोचा–मुझे आगे का कार्य करना चाहिये। इस भावना से वह जंगल में से ऐसे फल लाया जो दिखने में बहुत ही बढ़िया थे। जिनकी मधुर सुगन्ध फैल रही थी। महाराज नल के सामने फल उपस्थित करके कहा–राजन्पति ! आपने जिन्दगी में ऐसे मधुर फल नहीं खाये होंगे। आप इन फलों को ग्रहण कीजिये। नल नरेश को उस दुष्टमति मित्र पर पूरा–पूरा विश्वास तो था ही इसलिए उन्होंने उन फलों को खा लिया। फल बड़े ही अच्छे लगे। खाये हुए फलों का रस बना और सारे शरीर में फैल गया। उस रस के शरीर में फैल जाने से उनके ज्ञानतन्तु और शारीरिक शक्ति कमजोर बन गई। संसार के अन्दर कई तरह के पदार्थ होते हैं, कुछ शुभ फल देने वाले होते हैं और कुछ जीवन की शक्ति का ह्रास करने वाले होते हैं। कुछ स्फूर्ति लाने वाले होते हैं तो कुछ जीवन–रस को सुखाने वाले होते हैं।

जब नल नरेश के ज्ञानतन्तु ढीले होने लगे तो व्यसनों का घेरा बढ़ने लगा। अब महाराज को दूसरी चीजें कम पसन्द आने लगीं। वह दुष्टमति साफ कहता–महाराज ! आप अभी युद्ध करके पधारे हैं तो कुछ विश्रान्ति लेनी चाहिये और मादक द्रव्य लेने चाहिये। इससे युद्ध की थकावट हट जायगी। दुष्टमति उन्हें ऐसा समझा–समझा कर मदिरा और दूसरी–दूसरी चीजें देने लगा। अब नशे की मात्रा भी

बढ़ने लग गई। किसी नशे का एक बार प्रयोग किया जाय तो मस्तिष्क की शक्ति एक वक्त उस पदार्थ को पसंद नहीं करने का संकेत करती है और कुछ आन्तरिक झटका लगता है फिर भी वह नहीं समझ कर उसका पुनः सेवन करता है तो फिर वह शक्ति भी झटका देना छोड़कर उसके अनुकूल बनती जाती है। यही कारण हुआ कि उनका दिमाग धीरे-धीरे नशे की स्थिति के कारण ठीक सोचने में सक्षम नहीं रहा। ऐसे नक्शे आज भी आप देखते और सुनते होंगे।

मैं उड़ीसा प्रदेश में था। वहां मुझे उन भाइयों का कुछ नक्शा समझने का प्रसंग आया। मैंने वहां के किसी भाई से पूछा-भाई, यहां पानी बहुत है और लोग बेचारे मेहनत भी करते मालूम दे रहे हैं पर इतनी गरीबी क्यों ? इनके पास पूरा खाने को अन्न नहीं, पहनने को पूरे वस्त्र नहीं ? उस भाई ने कहा-महाराज ! ये कमाई तो करते हैं पर इनकी बुद्धि काम नहीं करती। एक समय का भी खाना पड़ा है तो भविष्य के लिए सोचने का प्रसंग इनमें कम रहता है। वे खेत जाएँगे, दौड़ेगे तो 5-6 रुपया कमा लेंगे किन्तु वे पहले दारु के ठेकेदार की दूकान पर जाते हैं। ठेकेदार प्रथम बार तो अच्छा दारु पिला देता है। जब उसे नशा आ जाता है तो नशे में और मांगता है कि लाओ। दारु का ठेकेदार देखता है-इसको प्रत्येक समय अच्छा दारु दिया जाय तो यह मर जायगा। तो वह दारु की जगह पानी भरकर देता है। वह तो उसे भी नशे की हालत में दारु समझ कर पीता है। तो ये लोग ठेकेदार के चंगुल से बाहर आने वाले नहीं।

वहां का ही नहीं और-और जगह का भी प्रसंग मेरे सुनने में आया। जो जितना नशैला पदार्थ सेवन करने वाला है प्रायः उसका जीवन उतना ही डांवाडोल होगा। आपको यह दशा वर्तमान युग में भी मिल सकती है।

नल नशे और दुर्वासनों में पड़कर अपने ज्ञानतन्तुओं की शक्ति को धीरे-धीरे नष्ट कर रहा था। उसका कुछ समय तक तो लुक-छिप कर कार्य हो रहा था पर जब अधिक मात्रा बढ़ गई तो महारानी को भी ज्ञात हुआ कि मेरे पतिदेव की स्थिति व्यसनों की ओर

अधिक बढ़ गई है। मेरे रहते उनकी दुर्दशा हो तो मैं अपने कर्तव्य से च्युत होती हूं। मेरा कर्तव्य है कि अपने पतिदेव को मैं ठीक रास्ते पर लाऊं। तभी मेरा धर्मपत्नी कहलाना सार्थक होगा।

दमयन्ती अपने पिता के घर, जब वह अविवाहित थी, तब से ही आत्मिक स्वरूप के साथ कर्तव्याकर्तव्य को पहचानती थी। वह शास्त्रों की भी ज्ञाता थी। विवाह होने के पश्चात् भी उसने ज्ञानादि में परिपक्वता लाने का प्रयास किया, पर उनको विस्मृत नहीं होने दिया। अतः इस समय वह नम्र भाव से पतिदेव के सामने आकर बोलती है—नाथ, आप किस रास्ते लग रहे है ? आप अभी युद्ध करके आये, एक राजा को मुनि बना दिया। आप उनके चरणों में नतमस्तिष्क होकर आये हैं लेकिन यह ऐसी विपरीत दशा क्यों बन रही है ? नाथ, आप जरा संभलिये। इस स्थिति से न आपका हित होता है न मेरा। आपने मेरे साथ क्या प्रण किये थे ? आपने प्रण किया था कि किसी भी नये कार्य की प्रवृत्ति होगी तो मैं तुम्हारी सलाह सहमति लूंगा। आप जीवन में दुर्व्यसनों को स्थान दे रहे हैं। इन दुर्व्यसनों के सेवन करने की क्या अनुमति ली।

नल नरेश कहने लगा—ये सब बातें कुछ नहीं हैं, धार्मिक बातें ढोंग हैं। ये तुम्हारी बातें अपने पास रहने दो। मन तो कहीं दौड़ता है और बातें धर्म की करो इसमें क्या रखा है ? तुम सामायिक करके बैठ जाती हो, क्या मन ठिकाने रहता है ?

नल नरेश को ये संस्कार दुष्टमति से मिले इसलिए वह कुतर्क देकर स्वयं नास्तिक बनने जैसी बातें कर रहा है। आजकल भी ऐसे विचार अधिकांश लोगों के मस्तिष्क में होंगे। आप जिस सामायिक अवस्था में बैठते हैं और वर्तमान में बैठे हैं उसमें मन वचन काया को किस—किस मात्रा में रखते हैं ? यद्यपि आप सामायिक दो करण तीन योग से करते हैं। आप मन से पाप करें नहीं, करावे नहीं। वचन से पापकारी शब्द बोले नहीं, किसी से बोलावे भी नहीं। काया से पाप करें नहीं,करवाएँ नहीं।

आप तटस्थता से विचार कीजिये। वर्तमान में मन में ऐसी कल्पना उठती है क्या कि मैं पाप करूं ? आप मुंह से पाप करने को

कहते हैं क्या ? आप तो नहीं कहते पर आपका लड़का आ गया और वह पूछता है–पिताजी, रसोई क्या बनवाऊँ तो क्या आप चलाकर कहेंगे कि अमुक रसोई बनाओ ? ऐसा आप नहीं कहेंगे क्योंकि सामायिक की अवस्था में पापकारी कार्य न करते हैं, न करवाते हैं दोनों करण सुरक्षित हैं। आग वगैरह जलाकर रसोई भी नहीं करते हैं और न इस तरह से करवाने का विचार ही करते हैं। आपका वचन सम्बधी त्याग का योग (पाप नहीं करना, नहीं कराना) सुरक्षित है। काया सम्बन्धी त्याग का योग भी उसी तरह से सुरखित है। अब रहा मन का सवाल। मन का बहुत बड़ा दायरा है। आपने सब दायरे को एक साथ नहीं रोका। 48 मिनट के लिए आपने प्रतिज्ञा ली। इन 48 मिनटों में जो परिणाम आते हैं वे कैसे आते हैं ? इसका मैं एक [illegible] संकेत भी दे गया। सामायिक में मन से पाप करना नहीं, करवाना नहीं। इन दो करणों की ही तो 48 मिनट की प्रतिज्ञा है। आप बैठे हैं और मन में भावना आई कि मुझे दुकान का कार्य चालू कर देना चाहिये। भावना तो आई पर सामायिक में बैठे-बैठे ही दुकान का कार्य का चालू कर दूं, इस प्रकार की भावना नहीं आई। 48 मिनट समाप्त होने के बाद मैं दुकान का कार्य चालू करूं इस प्रकार की भावना आई। प्रायः सोचने [illegible] कि 48 मिनट के अन्दर मैं पापकारी कार्य करने की [illegible] नहीं बनाी क्योंकि [illegible] की सीमा में वह रहा [illegible] अमुक संसारी काम करने के लिए [illegible] 48 मिनट तक सामायिक के [illegible] या कराऊं यह [illegible] नहीं [illegible] गया। 48 मिनट के [illegible] सोने में सुगन्ध है।

आप [illegible] कमजोरी हो तो [illegible] मन की बात [illegible] वाला नहीं है। [illegible] करेगे तो एक [illegible]

आप एक रोज में ही काबू में लाना चाहें तो नहीं ला सकते।

पर कोई भाई सिर्फ यही सोचे कि मेरा मन तो भटकता है फिर सामायिक में क्या लगेगा ? जब मन नहीं लगेगा इससे तो नहीं करना अच्छा है। तो क्या छूटे रहने से, या सामायिक नहीं करने से मन वश में आ जायगा ? नहीं आयेगा।

मन दौड़ रहा है। उसे वश में करने के लिए मेहनत करनी पड़ेगी, अभ्यास करना पड़ेगा। एक विद्यार्थी सोचे–मैं पहली कक्षा में तो भर्ती नहीं होऊं और एम. ए. पास करूं। तो क्या वह बिना पहली कक्षा और उसके बाद की कक्षाओं में गये ही एम. ए. की योग्यता प्राप्त कर पायेगा ? एम. ए. की योग्यता प्राप्त करनी है तो प्रथम कक्षा से धीरे–धीरे आगे बढ़ना होगा और बढ़ते–बढ़ते एम. ए. तक भी पहुँचा जा सकता है। अतः नास्तिक–मतियों की तरह बुद्धिमान मनुष्यों को कभी नहीं सोचना चाहिये।

नल प्रारम्भ से तो विवेकवान था पर दुष्टमति के संसर्ग से एवं कुव्यसनों के कारण, जैसे दुष्टमति बिना विवेक के जो मन में आया बोल देते हैं,ऐसे ही नल नरेश भी दमयन्ती को कह गया कि क्या रखा है इन धर्म की बातों में। उसके तो मस्तिष्क की नसें ढीली पड़ी थी। पर आपके मस्तिष्क की नसें तो ढीली नहीं हैं ? आप सब कुव्यसन सेवन करने वाले तो नहीं है। क्योंकि आपको सत्संगत का बराबर संयोग मिलता रहता है। लेकिन सत्संगत में आने वाले विरले हैं और कुसंगत में रहने वाले अधिक हैं। अतः आपकी भावी सन्तान कुव्यसन में न पड़ जाय इसका पूरा–पूरा ध्यान रखने की आवश्यकता हैं।

दमयन्ती सोच रही थी–गजब हो गया ! इनको कैसी दुष्ट संगत लगी जिससे इनकी बुद्धि मलीन बन गई है, विवेकशक्ति क्षीण हो गई है। पर मुझे धैर्य के साथ प्रेमपूर्वक इनके जीवन को सम्भालना है।

उधर दुष्टमति नल को फुसलाने की दृष्टि से अनेक तरह के उपाय करने लगा। वह स्वयं तो नशा कम करता था क्योंकि वह जानता था कि मैं यदि अधिक नशा सेवन करता ही गया तो मेरी बुद्धि

लुप्ति हो जायगी और मैं षड्यंत्र सोचने में अक्षम हो जाऊंगा। वैसी स्थिति में कुबेर के साथ किए हुए वायदे को मैं पूरा नहीं कर पाऊंगा। वह चालाक था। उसे किसी प्रकार के भी षड्यंत्र से कुबेर का काम करना था और उससे उसका भी काम बन रहा था। वह चालाकी के साथ धीरे–धीरे नल नरेश को बर्बादी के रास्ते पर आगे बढ़ा रहा था।

दुष्टमति अनेक तरह की बातें बना–बना कर महाराज से कहने लगा–आप राजाधिराज राजा हैं। आपका जीवन बड़ा अमूल्य है। आपको इस शरीर के प्रति सदा ध्यान रखना चाहिये। ये लोक परलोक सम्बन्धी बातें आपके मस्तिष्क में आ रही हैं सो ठीक नहीं। मैं आपका ही हित चाहता हूँ, आप तो जितना संभवं हो उतना पांच इन्द्रियों के विषयों का सेवन करिये और इसमें पीछे मत रहिये

नल नरेश इतने समय व्यसनों में पड़ा जरूर था पर अति बुरे व्यसनों से बच रहा था। दुष्टमति सोच रहा था कि जब तक अति कुव्यसनों की तरफ इनकी दृष्टि नहीं जायेगी तब तक इनकी शक्ति केन्द्रित रह सकती है। इसलिए इनकी शारीरिक शक्ति को नष्ट करना चाहिये। अब धीरे–धीरे नल नरेश के जीवन में विषय सम्बन्धी कुव्यसन भी प्रवेश करने लगे।

दमयन्ती सोचने लगी–अब मैं क्या करूं ? कैसे समझाऊं ? उसने सोचा–मेरे मन में कोई कमजोरी रही हुई है इसलिए यह नक्शा बना। मैं अपनी आत्म–शक्ति को पूरी विकसित नहीं कर पाई। मेरे जीवन में कोई त्रुटि रह गई है। जब तक मुझ में कोई त्रुटि है तब तक दूसरों की त्रुटि नहीं निकाल पाऊंगी। मैं अपने जीवन का समभाव से अन्तःकरण में चिन्तन करूं। वह एकान्त स्थान पर जाकर प्रभु को नमस्कार करती है और अन्तर का चिन्तन करती है कि मैंने जन्म लिया और जब से होश सम्भाला उस स्थिति से लेकर आज दिन तक मेरे जीवन में कोई पाप तो नहीं हुआ। वह चिन्तन करती हुई इसी प्रश्न को मन में बैठा कर सोचती है। उसे चिन्तन के क्षणों में आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। वह स्वयं के जीवन का अवलोकन कर रही है।

उधर महाराज सोचने लगे कि मुझे साथी बड़ा अच्छा मिल

गया। साथी भी सोच रहा था–मेरी दाल अच्छी गल रही है। जिस रोज मेरा काम पूरा हो जायगा उस रोज मैं अपने को धन्य समझूंगा। दुष्टमति वहिरात्मा था जो नल जैसे पवित्र अन्तरात्मा को भी वहिरात्मा वना रहा था।

आप भी अपने निज घर की ओर निगाह डालिये कि कहीं मैं व्यसन तो सेवन नहीं कर रहा हूँ ? यह भी सोच लीजिये कि कहीं आपकी संगति दुष्टमति की तो नहीं बन रही है। आप कथा भाग से जान चुके हैं कि नल जैसा अन्तरात्मा भी किस प्रकार वहिरात्मा के संसर्ग से गिर जाता है। मेरा तो वस्तुस्थिति रख देने का कर्तव्य है। निर्णय तो आपको अपने लिये करना है। आप अपने जीवन को देखकर अनुभव कीजिये और अपने जीवन को सद्गुणों की ओर वढ़ाते हुए सत्संगति के माध्यम से अपनी आत्मा को जानने की कोशिश करेंगे तो अपने जीवन को मंगलमय वना सकेंगे।

इसी शुभ भावना के साथ

❀❀❀❀❀